अथर्ववेदप्रातिशाख्य तथा वाजसनेयिप्रातिशाख्य का तुलनात्मक अध्ययन

डॉ० बीना जलोटे

ग्रन्थ के सन्दर्भ में

वैदिक साहित्य में प्रातिशाख्यों का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है यह वैदिक अनुसन्धानकर्ताओं से छिपा नहीं है। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ में चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयि-प्रातिशाख्य का तुलनात्मक अध्ययन तथा विस्तृत विवेचन प्रस्तुत है। चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयि-प्रातिशाख्य, वैदिक व्याकरण-सम्बन्धी नियमों का निर्धारण करते हैं। चतुरध्यायिका अथर्ववेद-संहिता पर आधारित है। शुक्लयतुर्वेद-संहिता पर आधारित है- वाजसनेयि-प्रातिशाख्य। दोनों प्रातिशाख्यों के वेदाध्ययन, संज्ञा, वर्णसमाम्नाय, वर्णोच्चारण, सन्धि, स्वर, पदपाठ, क्रमपाठ का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत है। चतुरध्यायिका का स्वरूप, चतुरध्यायिका के सूत्रों का विवरण, चतुरध्यायिका का सूत्रानुवाद (प्रांसगिक तथा अपेक्षित व्याख्या-सहित) प्रतिपादित है।

मूल्य : 425 रूपये

ISBN-81-87566-43-4

अथर्ववेदप्रातिशाख्य तथा वाजसनेयिप्रातिशाख्य

का

तुलनात्मक अध्ययन

लेखिका

डॉ० बीना जलोटे

2002

कला प्रकाशन

बी0 33/33 ए-1, न्यू साकेत कालोनी,

बी0एच0यू0, वाराणसी-221005

प्राक्कथन

वैदिक साहित्य में प्रातिशाख्यों का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है यह वैदिक अनुसन्धानकर्ताओं से छिपा नहीं है। चतुरध्यायिका एवं शुक्लयजुर्वेद प्रातिशाख्य, वैदिक व्याकरण-सम्बन्धी नियमों का निर्धारण करते हैं। चतुरध्यायिका अथर्व-संहिता पर आधारित है। शुक्लयजुर्वेद-संहिता पर आधारित है- शुक्लयजुर्वेद प्रातिशाख्य। यही मेरे ग्रन्थ का विषय है।

प्रस्तावित ग्रन्थ को पूर्ण करने में जिन व्यक्तियों एवं संस्थाओं का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग प्राप्त हुआ है, उनके प्रति कृतज्ञताज्ञापन परमावश्यक है।

सर्वप्रथम मैं भगवत्कृता के प्रति नतमस्तक हूँ जिनके विशिष्ट अनुग्रह से यह ग्रन्थ निर्विघ्न रूप से पूर्ण हो सका है।

परमश्रद्धेय प्रोफेसर वीरेन्द्रकुमार वर्मा, प्रोफेसर के0पी0 सिंह, परमपूजनीया प्रोफेसर विमला कर्नाटक के सम्यक् निर्देशन, सतत निरीक्षण एवं स्नेहाभिषिक्त आशीर्वाद की परिणति ही प्रस्तुत ग्रन्थ के रूप में निबद्ध है। अतः परमपूजनीय प्रोफेसर वीरेन्द्रकुमार वर्मा, प्रोफेसर के0पी0 सिंह, परमश्रद्धेया प्रोफेसर विमला कर्नाटक के प्रति मैं अन्तःकरण से कृतज्ञता समर्पित करती हूँ जिन्होंने ग्रन्थ के प्रस्तुतीकरण में कुशल मार्गदर्शन दिया एवं परिस्थितिजन्य विषमताओं में भी दृढ़ सम्बल प्रदान कर अपनी सह-अवस्थिति का सर्वदा अवबोध कराया है।

संस्कृत-साहित्य के प्रख्यात विद्वान् प्रोफेसर श्रीनारायण मिश्रा, प्रोफेसर सुदर्शनलाल जैन एवं साथ ही संस्कृत-विभाग, कला-सङ्काय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के समस्त श्रद्धेय गुरुजनों के प्रति भी श्रद्धावनत हूँ जिनकी प्रेरणा एवं प्रोत्साहन ही कार्य-सम्पादन के मूल में निहित है।

डॉ0 जमुना पाठक ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में जो अत्यधिक परिश्रम किया है उसके लिये मैं आन्तरिक श्रद्धा तथा कृतज्ञता प्रकट कर रही हूँ।

अंग्रेजी-साहित्य के परम विश्रुत-विश्रुत विद्वान् मेरे पूजनीय पति प्रोफेसर श्रीरंजन जलोटे के प्रति मैं विशेष रूप से श्रद्धावनत हूँ जिन्होंने विषम परिस्थितियों में भी सदैव मुझे प्रोत्साहन दिया, जिसके फलस्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ का निर्विघ्न रूप से सम्पादन हुआ।

मैं अपनी पुत्री श्रीमती निधि सेठ को आशीर्वाद दे रही हूँ जिसने ग्रन्थ के निबन्धन में प्रत्यक्ष रूप से पर्याप्त सहायता की है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मेरे स्वर्गीय सास-श्वसुर के प्रति भावनत हो समर्पित की गयी श्रद्धाञ्जलि है जिनकी स्तुति एवं पूर्वकथित स्नेहसिक्त अमरवाणी मेरी प्रेरणा का पाथेय बनी। श्रद्धेय माता-पिताजी एवं अपने परिवार के विश्रुत विद्वान् डॉ0 ब्रजमोहन, श्रीमती ब्रजमोहन के प्रति भी कृतज्ञताज्ञापन करने के लिये मेरे पास सम्यक् शब्दावली का अभाव है जिनके वात्सल्यपूरित मातृपितृ हृदय ने अनेकों विषम परिस्थितियों में संघर्ष करते हुए भी मेरे ग्रन्थ के सम्पादन में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं आने दिया और अनुत्साह के क्षणों में सर्वदा उत्साहित करते रहे। फलतः उनका स्नेह एवम् आशीर्वाद ही इस ग्रन्थ के रूप में फलीभूत हुआ।

डॉ0 प्रेमशंकर द्विवेदी (प्रकाशक) कला प्रकाशन को मैं विशेष रूप से धन्यवाद दे रही हूँ, जिन्होंने त्रुटि राहित्य के साथ इस ग्रन्थ का प्रकाशन किया है। इसके साथ ही मैं उन सबके प्रति कृतज्ञ हूँ जिनकी अनन्त शुभकामनाएँ इस ग्रन्थ के प्रकाशन के साथ संलग्न है।

ग्रन्थ को यथासम्भव शुद्ध रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है तथापि कोई त्रुटि हो तो उसके लिये विशाल हृदय विद्वज्जनों से मैं क्षमा याचना करती हूँ।

डॉ0 (श्रीमती) बीना जलोटे

विषय-सूची

पृष्ठसंख्या

●

सङ्केत-सूची

अ0प्रा0	:	अथर्ववेद-प्रातिशाख्य
अ0	:	अनन्तभट्टकृत पदार्थ-प्रकाश भाष्य
उ0भा0	:	उवटकृत मातृमोद भाष्य
ऋ0प्रा0	:	ऋग्वेद-प्रातिशाख्य
क्र0पा0	:	क्रमपाठ
का0सं0	:	काण्व-संहिता
च0अ0	:	चतुरध्यायिका
ज0पा0	:	जटापाठ
जै0मी0सू0भा0	:	जैमनीय मीमांसा सूत्र भाष्य
तै0प्रा0	:	तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य
ना0शि0	:	नारदीय-शिक्षा
नि0	:	निरुक्त
प0पा0	:	पद-पाठ
पा0	:	पाणिनीयाष्टाध्यायी
पा0शि0	:	पाणिनीय-शिक्षा
प्र0परि0	:	प्रतिज्ञा परिशिष्ट
मा0सं0	:	माध्यन्दिन संहिता
या0	:	याज्ञवल्क्य-शिक्षा
म0भा0	:	महाभाष्य

भूमिका

वेद विश्वसाहित्य के प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ-रत्न हैं। मानव संस्कृति के प्राचीनतम रूप तथा विकास को समझने के लिये वेदों का परिशीलन अपरिहार्य है।

वेदों का महत्त्व

मानव-जाति के इतिहास के ज्ञान के लिये, भारतीय संस्कृति को समझने के लिये और भाषाविज्ञान की गुत्थियों को सुलझाने के लिये वेदों का अध्ययन आवश्यक माना जाता है। वैदराशि भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की अमूल्य निधि है, जो आज भी वैज्ञानिक उपलब्धियों के बीच अपने ज्ञान गौरव की अक्षुण्णता का अबाध उद्घोष कर रही है। वेदों को ही आधार मानकर भारतीय दार्शनिकों एवं प्रतिभासम्पन्न वाक्-शिल्पियों ने धार्मिक तथा सामाजिक ज्ञान के भव्य प्रासाद को खड़ा किया है। अत एव वेदों का अनुशीलन तथा उनके मौलिक सिद्धान्तों एवं तथ्यों का उद्घाटन, ज्ञान के सैविर्ध्यम एवम् उन्नयन के संवर्धन लिए विशेष उपयोगी है।

वेदों का माहात्म्य हिन्दू धर्म में नितान्त उच्चतम तथा विशाल है। शतपथ ब्राह्मण का स्पष्ट कथन है कि धन से परिपूर्ण पृथिवी के दान करने से जितना फल होता है, वेदों के अध्ययन से भी उतना ही फल मिलता है। उतना ही नहीं, प्रत्युत उससे भी बढ़कर अविनाशशाली अक्षयलोक को मनुष्य प्राप्त करता है। अतः वेदों का स्वाध्याय करना अत्यन्त आवश्यक तथा उपादेय है। जैसाकि वचन है–

"यावन्तं ह वै इमाँ पृथिवीं वित्तेन पुर्णां ददत् लोकं जयति, त्रिभिस्तावन्त जयति भूयासं च अक्षय्यं च य अक्षय्यं च य एवं विद्वान् अहरहः स्वाध्यायमधी ते, तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।" (श0, 11/5/61)

देवज्ञ की प्रशंसा में मनु की यह उक्ति बड़ी मार्मिक है– वेदशास्त्र के तत्त्व को जानने वाला व्यक्ति जिस किसी आश्रम में निवास करता हुआ, कार्य का सम्पादन करता है, वह इसी लोक में रहते हुए ब्रह्म का साक्षात्कार

करता है–

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते।।

(मनुस्मृति 12/102)

वेदों का सर्वाधिक धार्मिक महत्त्व है। आधुनिक भारत में जितने विभिन्न मत-मतान्तर प्रचलित है, इनका मूलस्रोत वेद से ही प्रवाहित होता है। वेद ज्ञान के वे मानसरोवर है जहाँ से ज्ञान की विमल धाराएँ विभिन्न भागों से बहकर भारत के ही नहीं समस्त जगत् के प्रदेशों को उर्वर बनाती है।

श्रुतियों की सहायता से ही भारतीय दर्शनों के विविध विकास को हम भली-भाँति समझ सकते है। उपनिषदों में समग्र आस्तिक तथा नास्तिक दर्शन के तत्त्वों की बीजरूपेण उपलब्धि होती है।

भाषा की दृष्टि से वेदों का महत्त्व कम नहीं है। वैदिक भाषा के अध्ययन ने भाषाविज्ञान को सदृढ़ भित्ति पर प्रतिष्ठित कर दिया है।

प्रातिशाख्य का स्वरूप एवं महत्त्व

प्रातिशाख्यों का साक्षात् सम्बन्ध शिक्षाग्रन्थों से है, जो वेदों के अङ्गविशेष है, और उसी परम्परा में "प्रातिशाख्य" वेद का उपाङ्ग बन जाता है। प्रातिशाख्य को 'शिक्षा' से सम्बद्ध मानने वाले विद्वान् यह तर्क प्रस्तुत करते है कि तैत्तिरीय शिक्षाध्याय में उपदिष्ट शिक्षा-ग्रन्थ सम्बन्धी विषय प्रातिशाख्यों में भी उपलब्ध होते है। उनका यह तर्क उपयुक्त प्रतीत नहीं होता; क्योंकि प्रातिशाख्यों में प्रगृह्य अवगृह्यविषयक विधान तथा क्रमपाठ आदि कतिपय नवीन तथा विशिष्ट विषय भी प्राप्त होते हैं, जो शिक्षा ग्रन्थों में अप्राप्य हैं। अतः निष्कर्ष स्वरूप यही कहा जा सकता है कि प्रातिशाख्य शिक्षा-वेदाङ्ग से भिन्न एक प्रकार का स्वतन्त्र शास्त्र है, जो साक्षात् रूप से वेदाङ्ग न होकर भी अपने वेदापाङ्ग के रूप में विपुल महत्त्व रखता है।

प्रातिशाख्य-ग्रन्थों का प्रयोजन

प्रातिशाख्यकार कात्यायन ने वाजसनेयिप्रातिशाख्य में प्रातिशाख्य का प्रयोजन बतलाते हुए कहा है कि वर्णों के दोष के विवेचन के लिए प्रातिशाख्य

का अध्ययन करना चाहिए।[1] अर्थात् संहिता, पदों से निष्पन्न होती है तथा पद वर्णों में निर्मित होते है। अतः संहिता के शुद्ध उच्चारण के लिए उसके वर्णों के शुद्ध उच्चारण का ज्ञान आवश्यक है। वर्णोच्चारंण में होने वाले दोषों तथा उनके शुद्ध उच्चारण की पद्धति इत्यादि का ज्ञान प्रातिशाख्यों में विहित है। बिना प्रातिशाख्यों के अध्ययन से शुद्ध वर्णोच्चारण का ज्ञान सम्भव नहीं है। अतः वर्णों के शुद्ध उच्चारण के लिए प्रातिशाख्य ग्रन्थों का अध्ययन अपेक्षित है।

वेद की किसी शाखाविशेष में प्राप्त पदों तथा स्वरों के सम्यग् ज्ञान हेतु तत्सम्बन्धित प्रातिशाख्य का अध्ययन अत्यावश्यक है। जैसा कि अथर्ववेद-प्रातिशाख्य में स्पष्टरूपेण कहा गया है कि इस व्याकरणशास्त्र का, सर्वप्रथम विस्तृत ज्ञान के लिए अध्ययन करना चाहिए, संहिता की दृढ़ता के लिए प्रातिशाख्य का अध्ययन वेदाध्ययन से पूर्व करना चाहिए; क्योंकि वेदों की विभिन्न शाखाओं में पदों के विभिन्न पाठ मिलते हैं तथा विभिन्न शाखाओं में उपलब्ध समान शब्दों के भिन्न-भिन्न स्वर तथा उनके भिन्न-भिन्न रूप प्राप्त होते है।[2] भाष्यकार उवट के अनुसार वेदों के समुचित पाठ को न जानने वाले का जपादि क्रियाओं में अधिकार नहीं है। अतः वेदों के सम्यक् पाठ ज्ञान के लिए प्रत्येक अध्येता को प्रातिशाख्यशास्त्र का ज्ञान होना चाहिए।[3] अर्थात् वेद की सम्यक् पाठसिद्धि के लिए प्रातिशाख्यों का ज्ञान अत्यावश्यक है।

प्रातिशाख्य-शब्द की निरुक्ति तथा क्षेत्र

'प्रातिशाख्य' शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है- वेद की शाखा विशेष से सम्बद्ध ग्रन्थ। यही बात अथर्वप्रातिशाख्य में भी कही गयी है–

माधव तथा अनन्त नामक आचार्यों का प्रातिशांख्य शब्द की निरुक्ति करते समय का कथन है कि– "शाखायां शाखायां प्रतिशाख्यम् प्रतिशाखं

---

1. वर्णदोषविवेकार्थम्, वा. प्रा., 1/26.
2. तदिदं शास्त्रं व्याकरणं पुरस्ताध्येयम् विज्ञानाय। आम्नायदार्ढ्यार्थम्। शाखान्तरेष्वन्यथा निगदत्वात्। समानशब्दानां स्वरान्यत्वाद्वर्णान्यित्वाच्च। अ0प्रा01/3.
3. उपादौ नाधिकारोऽस्ति सम्यक्पाठमनानतः। प्रातिशाख्यमतो ज्ञेयं सम्यक् पाठस्य सिद्धये।। वा.प्रा. 1/1 पर उवट.

भवमिति प्रातिशाख्यम्" अर्थात् वेद की किसी एक शाखाविशेष से सम्बद्ध रहने के कारण ही इस ग्रन्थ-विशेष का नाम प्रातिशाख्य है।

प्रातिशाख्य ग्रन्थों का अध्ययन क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। वे अपने से सम्बद्ध किसी एक शाखा के नियमों का तो निर्देश करते ही है, क्योंकि इनका मुख्य कार्य यही है साथ ही वे किसी एक चरण के अन्तर्गत सभी शाखाओं की संहिताओं से सम्बद्ध नियमों का भी निर्देश प्रस्तुत करते है। अतः निरुक्तकार यास्क का मत है कि समस्त चरणों के प्रातिशाख्य पदों को प्रकृति मानकर अपना विधान व्यक्त करते है। इन सबके साथ ही इन प्रातिशाख्य ग्रन्थों में वेद की किसी शाखाविशेष से सम्बन्धित वर्ण, पद, स्वर, सन्धि इत्यादि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत किया गया है, जिससे तत्सम्बन्ध संहिता के बाह्यस्वरूप का ज्ञान सरलता से हो जाता है।

उपलब्ध प्रातिशाख्य-ग्रन्थ

उपलब्ध प्रातिशाख्य ग्रन्थों के सन्दर्भ में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। इस समय कुछ ऐसे भी प्रातिशाख्य ग्रन्थ उपलब्ध है, जिनको कुछ विद्वान् प्रातिशाख्य मानते है तथा कतिपय अन्य विद्वान् नहीं मानते। इस मतवैभिन्य की दुरावस्था में भी जो प्रातिशाख्य ग्रन्थ निर्विवाद पूर्णरूपेण उपलब्ध होते है, वे प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण होने से उल्लेखनीय है–

1. ऋग्वेद की शाकलशाखा से सम्बद्ध ऋग्वेदप्रातिशाख्य।
2. कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीयशाखा से सम्बद्ध तैत्तिरीयप्रातिशाख्य.
3. शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिनशाखा से सम्बद्ध वाजसनेयिप्रातिशाख्य.
4. सामवेद की कौथुमशाखा से सम्बन्धित ऋक्तन्त्र.
5. अथर्ववेद की शौनकशाखा से सम्बन्धित शौनकीया चतुरध्यायिका.
6. अथर्वप्रातिशाख्य (डॉ. सूर्यकान्त द्वारा सम्पादित).

ए.एम. रामनाथ दीक्षित ने सामतन्त्र, अक्षरतन्त्र तथा पुष्पतन्त्र को भी प्रातिशाख्या माना है।

---

1. पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि, निरुक्त, 1/17.

प्रातिशाख्यों की विषयवस्तु

प्रातिशाख्य ग्रन्थों का मुख्य लक्ष्य है अपनी-अपनी शाखाओं के संहिता-पाठ, पदपाठ आदि की सुरक्षा करना। प्रातिशाख्यों का उद्देश्य वैदिक सन्धियों का विस्तृत विवेचन, पदपाठ सम्बन्धी नियम, क्रमपाठ, क्रम हेतु और अवग्रह के नियम, इत्यादि का विधान करना है इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे नियम का प्रतिपादन किया गया है जिसका विवरण अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं होता। प्रातिशाख्य ग्रन्थों में वर्णों के स्थान एवं करण, वर्णोत्पत्ति, स्वरों के साधारण नियम, विशेष पदों में स्वर की विशिष्टता, कतिपय विशिष्ट स्थलों में दीर्घत्व का विधान, दीर्घ एवं ह्रस्व विधान, नति सन्धि, विसर्जनीय के विकार आदि का विस्तृत विधान किया गया है। अत एव पदपाठ से संहितापाठ एवं क्रमपाठ निर्माण के नियम, अवग्रह के स्थान, परिग्रह का प्रकार, वेदाध्ययन-विधि आदि विषयों का सुसम्बद्ध एवं वैज्ञानिक रीति से विधान प्रस्तुत किया गया है। अत एव प्रातिशाख्य ग्रन्थ, शिक्षा एवं व्याकरण सम्बन्धी ऐसे गूढ़ विषयों का गहन अध्ययन प्रस्तुत करते हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। अतः वाजसनेयि-प्रतिशाख्य के भाष्यकार उवट ने प्रातिशाख्य को शिक्षा तथा व्याकरणशास्त्र का परिपोषक शब्द से विभूषित किया है। जिस प्रकार वैदिक ग्रन्थों के अर्थज्ञान के लिए निरुक्त ग्रन्थ उपयोगी है, उसी प्रकार वेदमन्त्रों के बाह्यस्वरूप के ज्ञान के लिए प्रातिशाख्य ग्रन्थों का ज्ञान परमावश्यक है।

प्रातिशाख्यों का उद्भव

प्राचीनकाल से ही वेदों को कण्ठस्थ करने की परम्परा प्रशस्त रही है तथा प्रतिदिन अधीत वेद का कण्ठस्थ परायण ब्राह्मण के द्वारा नियमित रूप से किया जाता था। आश्रम-व्यवस्था की शिथिलता, शास्त्रोक्त नियम-पालन में प्रमाद का प्रवेश तथा मानवजीवन की बहिर्मुखता के फलस्वरूप वेद के संरक्षण एवम् उसके अभ्यास में ह्रास का प्रारम्भ हुआ। इस स्थिति को देखते हुए, आचार्यों ने वेद के पवित्र मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण में वर्ण, पद, सन्धि, स्वर, मात्रा आदि विशिष्ट नियमों को पाठ-सुरक्षा के लिए ग्रन्थों के रूप में उल्लिखित कर देना अत्यन्त आवश्यक समझा। इस अभाव की पूर्ति के लिए ही प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थों का उद्भव हुआ। फलतः प्रत्येक चरणों एवम् उसके अन्तर्गत शाखाओं के लिए तत्तत् सम्प्रदाय के अधिकारी मान्य आचार्यों द्वारा विभिन्न प्रातिशाख्य ग्रन्थों का प्रणयन हुआ।

वेदों के सम्यक् ज्ञान के लिए वेदाङ्गों का अभ्युदय हुआ। वेद के षडङ्गों के नाम अधोलिखित है– 1. शिक्षा, 2. कल्प, 3. व्याकरण, 4. निरुक्त, 5. छन्द, एवं 6. ज्योतिष्।

वेदों के सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् संरक्षण में इन षडङ्गों के अतिरिक्त वेदों की प्रत्येक शाखाओं की पाठ सुरक्षा के लिए प्रातिशाख्य ग्रन्थों का उद्भव हुआ। ये ग्रन्थ वेद के अध्ययन-अध्यापंन एवं सुरक्षा में महान् उपकारक है। इन ग्रन्थों में वेद की किसी शाखाविशेष से सम्बन्धित वर्ण, पद, सन्धि, स्वर, छन्द आदि महत्त्वपूर्ण विषयों का प्रतिपादन किया गया है, जिससे तत्सम्बन्धित संहिता के वर्ण एवं पद आदि का भली-भाँति ज्ञान हो जाता है।

यद्यपि किसी भी प्रातिशाख्य ग्रन्थ के आविर्भाव काल के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी कहना साक्ष्य के अभाव में कठिन है, किन्तु प्रातिशाख्य ग्रन्थों तथा पाणिनि की अष्टाध्यायी में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर पौर्वात्य एवं पाश्चात्य विद्वानों के विचारों का निष्कर्ष इस प्रकार समझ सकते है– मैक्समूलर, बेवर तथा राथ इत्यादि विद्वान् प्रातिशाख्य ग्रन्थों को पाणिनि का पूर्ववर्ती मानते है, और गोल्डस्टूकर उन्हें पाणिनि के बाद का ग्रन्थ मानते है। पाणिनि का जन्मकाल लगभग 500 ई0 पू0 है।

प्रतिशाख्य ग्रन्थों का पौर्वापर्य

प्रातिशाख्य वेदाङ्गों से पृथक् स्वतन्त्र शास्त्रीय महत्त्वपूर्ण विशिष्ट ग्रन्थ हैं। इनका समग्र रचनाकाल ई0 पू0 800 से लेकर ई0 पू0 500 के मध्य में है। इस प्रकार 300 वर्षों की दीर्घ अवधि में रचे गये प्रातिशाख्य-ग्रन्थों के विषय में यह प्रश्न खड़ा होना स्वाभाविक ही है कि उपलब्ध प्रातिशाख्यों में किस प्रातिशाख्य-ग्रन्थ की रचना पहले हुई और किसकी बाद में हुई? यद्यपि इस विषय को लेकर विद्वानों में मतभेद रहा है किन्तु अब तक के प्राप्त तथ्यों के आधार पर सभी विद्वानों ने इस तथ्य को स्वीकार कर लिया है कि जिस प्रकार ऋग्वेदसंहिता सभी संहिताओं में प्राचीनतम है, उसी प्रकार ऋग्वेदप्रातिशाख्य सभी प्रातिशाख्यों में प्राचीनतम है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। इसका कारण यह है कि जो साहित्य पहले से प्रकाश में आ जाता है। उसका पद-निरुक्ति सहित समस्त व्याकरणात्मक अध्ययन भी प्रथमतः सभी से पहले प्रारम्भ होता है। इसके तुरन्त बाद तैत्तिरीयप्रातिशाख्य का

स्थान है। वाजसनेयिप्रतिशाख्य और चतुरध्यायिका के पौर्वापर्य के सम्बन्ध में अवश्य ही विद्वानों में मतभेद दृष्टिगोचर होता है। कुछ विद्वान् वाजसनेयि-प्रातिशाख्य को चतुरध्यायिका से प्राचीन मानते है। डॉ0 सिद्धेश्वर वर्मा के मतानुसार वाजसनेयिप्रातिशाख्य 4/22 में शौनक के मत को उद्धृत किया है जो शौनकीया चतुरध्यायिका में विहित विधान से सम्बन्धित है।[1] इस आधार पर वे वाजसनेयिप्रातिशाख्य को चतुरध्यायिका से अर्वाचीन मानते है।[2] परन्तु मैक्समूलर, वेबर, गोल्डस्टूकर आदि विद्वानों के मतानुसार चतुरध्यायिका वाजसनेयिप्रातिशाख्य से पश्चाद्वर्ती रचना है। इस मत के विपरीत वाजसनेयि-प्रातिशाख्य से सम्बन्धित कुछ ऐसे प्रमाण दृष्टिगत होते है, जिनके आधार पर वाजसनेयिप्रातिशाख्य प्राचीनतम होना सिद्ध हो जाता है। उदाहरण के लिए वाजसनेयि प्रातिशाख्य के सूत्रों की संख्या तथा उनकी निश्चित आनूपूर्वी के विषय में पर्याप्त विवाद है। यही कारण है कि उन्हें कही यह संकेत देना आवश्यक हो गया कि कतिपय आचार्य इस सूत्र का पाठ करते थे जो कि अपपाठ है और कहीं यह लिखना पड़ा कि यह सूत्र प्रयोजनाभाव से अनावश्यक है।[3] इससे भिन्न भाष्यकार अनन्तभट्ट कछ नवीन सूत्रों का पाठ देते है तथा उस पर भाष्य भी लिखते है।[4] इससे ज्ञात होता है कि ग्रन्थ की प्राचीनता होने के कारण भाष्यकारों के सामने वाजसनेयिप्रातिशाख्य के सूत्रपाठ की संख्या व आनुपूर्वी के विषय में कोई भी ठोस आधार नहीं था। वाजसनेयि-प्रातिशाख्य के अन्त में उपसंहार-वाक्य के रूप में यह कहा गया कि– **"इत्याह स्वरसंस्कारप्रतिष्ठापयिता भगवान् कात्यायनः"**। उक्त वाक्य में सूत्रकार कात्यायन का भगवान् विश्लेषण के साथ भी स्वर और संस्कार के विषय में प्रतिष्ठापयिता के रूप में स्मरण किया गया हैं इसके द्वारा वाजसनेयि-प्रातिशाख्य प्राचीनतर होना सर्वथा निर्मूल न होकर गहन अनुसन्धान की अपेक्षा रखता है।

सामवेद की कौथुम शाखा से सम्बन्धित ऋक्तन्त्र के सम्बन्ध में टर्नेल का कथन है कि यह पाणिनि के बाद की रचना है परन्तु डॉ0 सूर्यकान्त

---

1. असस्थाने मुदि द्वितीयं शौनकस्य, वा.प्रा. 4/122.
2. एस. वर्मा, क्रिटिकल स्टडी आफ इण्डियन ग्रामर, पृ0 118.
3. इति सूत्रं केचिन्न पठन्ति व्यर्थत्वात्। वा.प्रा. 4/60 पर उवट.
4. वा.प्रा., 4/33 मद्रास संस्करण.

ने पुष्ट प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि यह पाणिनि से पूर्व की रचना है। अथर्ववेदप्रातिशाख्य पाणिनि मुनि से पश्चाद्वर्ती रचना होने के कारण सभी प्रातिशाख्यों में अर्वाचीन है। इस प्रकार यह तथ्य स्पष्ट होता है–

1. कुछ विद्वान् तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के बाद वाजसनेयिप्रातिशाख्य तथा उसके बाद चतुरध्यायिका की रचना मानते है।

2. कुछ विद्वान् इस मत के विरुद्ध तैत्तिरीयप्रातिशाख्य के बाद चतुरध्यायिका और उसके बाद वाजसनेयिप्रातिशाख्य की रचना स्वीकार करते हैं।

3. कुछ विद्वान् दोनों की रचना समकालीन मानते हैं। वाजसनेयिप्रातिशाख्य तथा चतुराध्यायिका के पश्चात् ऋक्तन्त्र की रचना को सभी विद्वान् एकमत से स्वीकार करते है। अथर्व-प्रातिशाख्य का स्थान तथा रचना-काल सबसे परवर्ती है। इस विवरण के आधार पर प्रातिशाख्यों का क्रम इस प्रकार है–

1. ऋग्वेदप्रातिशाख्य
2. तैत्तिरीयप्रातिशाख्य
3. वाजसनेयिप्रातिशाख्य
4. चतुरध्यायिका
   समकालीन तथा तै.प्रा. से सर्वाचीन,
5. ऋक्तन्त्र
6. अथर्वप्रातिशाख्य

शुक्लयजुर्वेद-प्रातिशाख्य

शुक्लयजुर्वेद से सम्बन्धित वाजसनेयिप्रातिशाख्य अथवा शुक्लयजुर्वेद-प्रातिशाख्य आचार्य कात्यायन की रचना है। विस्तार की दृष्टि से यह प्रातिशाख्य ऋग्वेदप्रातिशाख्य से छोटा और अन्य प्रातिशाख्यों से बड़ा है। आठवें अध्याय के कुछ सूत्रों को छोड़कर सम्पूर्ण प्रातिशाख्य सूत्ररूप में विद्यमान है। आठवें अध्याय में छह अनुष्टुप् श्लोकात्मक सूत्र हैं। प्रस्तुत प्रातिशाख्य आठ अध्यायों में विभक्त है और अध्याय के अन्तर्गत सूत्र है। इसके उपलब्ध मुद्रित संस्करणों में सूत्र संख्या एक सी नहीं है। सम्पूर्ण मुद्रित संस्करणों में आठवें अध्याय की सूत्र व्यवस्था तथा संख्या नितान्त अव्यवस्थित सी है। अत एव वाजसनेयि

प्रातिशाख्य के सूत्रों की न्यूनतम सीमा सात सौ पचीस और अधिकतम सीमा सात सौ चालीस है। इससे सूत्रपाठ के विषय में भाष्यकार उवट के पूर्व समय से ही विवाद उत्पन्न हो गया था जिसके लिए भाष्यकार उवट को अनेक स्थलों पर कहीं सूत्र की अपपाठता एवं कहीं सूत्र की व्यर्थता को प्रस्तुत करना पड़ा।

विषयवस्तु की दृष्टि से वाजसनेयिप्रातिशाख्य महत्त्वपूर्ण है परन्तु विषयों के अनुक्रम की व्यवस्था की दृष्टि से वह ऋग्वेदप्रातिशाख्य की भाँति सुविभक्त नहीं है। वाजसनेयिप्रातिशाख्य के सम्पूर्ण अध्यायों में मुख्यविषयों की तालिका इस प्रकार है–

अध्याय संख्या		विषय
प्रथम	:	शब्दों की उत्पत्ति, अध्ययन-विधि, संज्ञा एवं परिभाषा, वर्णों के उच्चारण स्थान तथा करण और पूर्वाङ्ग-पराङ्ग चिन्ता।
द्वितीय	:	स्वर-सम्बन्धी विधान।
तृतीय	:	सन्धि-नियम।
चतुर्थ	:	सन्धि के नियम, पदपाठ के नियम और क्रमपाठ के नियम।
पञ्चम	:	अवग्रह सम्बन्धी नियम।
षष्ठ	:	आख्यात और उपसर्ग पदों के स्वर-सम्बन्धी नियम तथा पदों का स्वरूप।
सप्तम	:	परिग्रह सम्बन्धी नियम।
अष्टम	:	वर्ण समाम्नाय, वेदाध्ययन विधि एवम् उसका फल, वर्णों के देवता, चार पद विधाए, उनका लक्षण तथा उनके देवताओं का विवेचन।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य में सूत्रकार ने द्वारा विभिन्न स्थलों में नौ आचार्यों के मतों का नामतः उल्लेख किया है जिनके नाम इस प्रकार है–

काण्व,[1] शाकटायन,[2] शाकल्य,[3] औपशिवि,[4] काश्यप,[5] दाल्भ्य,[6] शौनक,[7] जातूकर्ण्य,[8] और गार्ग्य।[9] इनके अतिरिक्त एके[10] एकेषाम्,[11] तथा माध्यन्दिनाम्[12] इत्यादि शब्दों द्वारा भी मतों का निर्देश ग्रन्थ में यत्र-तत्र किया गया है। पारिभाषिक शब्दों की दृष्टि से भी यह प्रातिशाख्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें दो प्रकार के पारिभाषिक शब्द प्राप्त होते है, एक तो वे हैं जो अन्वर्थ हैं और दूसरे वे है जो रूढ़ हैं तथा जिनका अर्थ विश्लेषण कठिन है। ऐसे जित्, मुत्, धि, सिम् इत्यादि पारिभाषिक शब्दों का अन्य प्रातिशाख्यों में समावेश नहीं हुआ है। इस प्रातिशाख्य के तीन नाम व्यवहार में आते है, जो ये है–

1. वाजसनेयि-प्रातिशाख्य
2. शुक्लयजुः-प्रातिशाख्य
3. कात्यायन-प्रातिशाख्य

वाजसनेयि प्रातिशाख्य के मुख्य विषय

वाजसनेयि प्रातिशाख्य में प्रतिपादित विषयों को निम्नलिखित भागों में विभक्त किया जा सकता है–

1. वर्णविचार– वाजसनेयि प्रातिशाख्य के अष्टम अध्याय में वर्णसमाम्नाय का कथन किया गया है एवं प्रथम अध्याय में वर्णोत्पत्ति, वर्णों की उत्पत्ति के स्थान और करण, अक्षर-विभाजन (अङ्गाङ्गिभाव) का विधान किया गया है। अष्टम अध्याय में वर्णों के देवता एवं चतुर्थ अध्याय में ऋ, लृ के स्वरत्व के विषय में विधान किया गया है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य में प्रणव के प्रयोग एवं उसके महत्त्व का प्रतिपादन भी किया गया है।

2. स्वर-विचार– संहिता-पाठ परम्परानुसार होता है। यह पाठ साधारण न होकर स्वराधातों के आधार पर होता है। स्वरोच्चारण में थोड़ी सी भी

---

1. वा. प्रा., 1/123, 149.
2. वा. प्रा., 3/10.
3. वा. प्रा., 3/11.
4. वा. प्रा., 3/131.
5. वा. प्रा., 4/5, 160.
6. वा. प्रा., 4/16.
7. वा. प्रा., 4/122.
8. वा. प्रा., 4/125, 160, 5/22.
9. वा. प्रा., 4/167.
10. वा. प्रा., 3/91, 128, 188, 5/23, 7/8.
11. वा. प्रा., 4/37, 128, 146.
12. वा. प्रा., 8/39.

त्रुटि होने पर महान् अनर्थ हो जाता है। इसीलिए वाजसनेयि प्रतिशाख्य में स्वर-विषयक विस्तृत विधान किया गया है। प्रथम अध्याय में उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित का स्वरूप, स्वरित के भेद तथा लक्षण, स्वरितों के उच्चारण में हस्तप्रदर्शन इत्यादि महत्त्वपूर्ण विषयों को प्रतिपादित किया गया हैं वाजसनेयि प्रातिशाख्य के सम्पूर्ण द्वितीय अध्याय एवं षष्ठ अध्याय में वैदिक मन्त्रों में स्वर सम्बन्धी नियमों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

3. **सन्धि-विचार–** प्रातिशाख्यों का मुख्य प्रतिपाद्य-विषय पदों से संहिता-पाठ का निर्माण करना है। पदों से संहिता-पाठ का निर्माण संधि-नियमों के आधार पर ही होता हैं यही कारण है कि वाजसनेयि-प्रातिशाख्य के सम्पूर्ण तृतीय अध्याय एवं चतुर्थ अध्याय के तीन चौथाई हिस्सों में सन्धि-विषयक नियमों का विधान किया गया है। सन्धि-विषयक संज्ञा एवं परिभाषाओं का कथन व्यजसनेयि प्रातिशाख्य के प्रथम अध्याय में किया गया है।

4. **पदपाठ-विचार–** वाजसनेयि प्रातिशाख्य वाजसनेयि संहिता के पदपाठ पर आधारित है। संहिता के शुद्ध उच्चारण के लिये पदों का शुद्ध उच्चारण आवश्यक है। अर्थज्ञान की दृष्टि से भी वैदिक पदों के शुद्ध रूपों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर वाजसनेयि प्रातिशाख्य में पदपाठ सम्बन्धी नियम बतलाये गये हैं। पद का लक्षण, अनेक प्रकार के पद एवं उनके लक्षण, पदपाठ में इतिकरण का विधान, स्थितोपस्थित का स्वरूप, अवग्रह का विस्तृत विवेचन एवं परिग्रह के नियम वाजसनेयि प्रातिशाख्य के प्रथम एवं चतुर्थ अध्याय के कतिपय सूत्रों तथा सम्पूर्ण पञ्चम एवं सप्तम अध्याय में बतलाये गये हैं।

5. **क्रमपाठ-विचार–** पदपाठ एवं संहितापाठ के बाद क्रमपाठ का स्थान आता है। पदपाठ एवं संहितापाठ इन दोनों की पुष्टि के लिये क्रमपाठ अत्यन्त उपयोगी हैं अतएव वाजसनेयि-प्रातिशाख्य के चतुर्थ अध्याय के अन्तिम सूत्रों तथा सप्तम अध्याय में क्रम-पाठ का विधान किया गया है।

6. **वेदाध्ययन-विचार–** प्राचीनकाल से ही वेदों के अध्ययन की सुव्यवस्थित परिपाटी चली आ रही है। वेदाध्ययन की अपनी विशिष्ट विधि है। इस विधि का वर्णन वाजसनेयि-प्रातिशाख्य के प्रथम अध्याय के प्रारम्भिक सूत्रों एवं अष्टम अध्याय के कतिपय सूत्रों में किया गया है। वेदाध्ययन का फल भी अष्टम अध्याय में बतलाया गया है।

वाजसनेयि-प्रातिशाख्य के निर्माण में अपनाई गई पद्धति

वाजसनेयि-प्रातिशाख्य वाजसनेयि चरण की पन्द्रह शाखाओं से सम्बन्धित हैं वाजसनेयि प्रातिशाख्य के सूत्रों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि प्रातिशाख्यकार कात्यायन ने वाजसनेयि चरण की महत्त्वपूर्ण संहिताओं की विशेषताओं को उल्लिखित करने के लिये अथक परिश्रम किया हैं सूत्रकार ने संहिता के स्थित प्रत्येक स्थल, वर्ण, पद, सन्धि, स्वर आदि का सूक्ष्म निरीक्षण किया है तथा एक-एक स्थल को लेकर सूत्रों का निर्माण किया है। इतने विशाल साहित्य की विशिष्टताओं को उल्लिखित करने के लिए आचार्य कात्यायन ने वाजसनेयि प्रातिशाख्य में तीन प्रकार के सूत्रों का निर्माण किया है– (क) सामान्य सूत्र, (ख) अपवाद सूत्र तथा (ग) निपातन सूत्र।

सर्वप्रथम उन्होंने व्यापक क्षेत्र वाली विधियों को सामान्य सूत्र के रूप में उपनिबद्ध किया है तदनन्तर अल्पक्षेत्र वाली विधियों को अपवाद सूत्रों के रूप में उपनिबद्ध किया है। सामान्य सूत्रों एवं अपवाद सूत्रों के अन्तर्गत न आने वाले तथा सम्पूर्ण शास्त्र के अपवाद-सूत्र-स्थलों को निपातन के रूप में प्रस्तुत किया है। वाजसनेयि संहिता के सभी स्थल इन सूत्रों के अन्तर्गत आ गये हैं। वाजसनेयि प्रतिशाख्य की पद्धति में अद्योलिखित विधायों को अपनाया गया है–

1. माध्यन्दिन संहिता के अतिरिक्त अन्य शाखाओं की संहिताओं के पाठगत विभिन्नताओं का निर्देश तत्तत् आचार्यों के नामों से अथवा एके, एकेषाम् आदि के द्वारा किया गया है

2. ग्रन्थ में शब्दों के अनावश्यक प्रयोग से बचने के लिये सूत्रकार द्वारा पारिभाषिक शब्दों का पर्याप्त प्रयोग किया गया हैं विपुल अर्थ को प्रकट करने के लिये सूत्रकार ने एकत्र परिभाषिक शब्द का विधान कर दिया और फिर जहाँ-जहाँ उस अर्थ के प्रकट करना अभीष्ट था वहाँ-वहाँ उस छोटे से पारिभाषिक शब्द का उल्लेख कर दिया।

3. वाजसनेयि प्रातिशाख्य के सूत्रों को भली-भाँति समझने के लिये तथा उनके समुचित प्रयोग के लिये प्रातिशाख्यकार ने वाजसनेयि प्रातिशाख्य के प्रथम अध्याय में कतिपय परिभाषा सूत्रों का निर्माण किया है। पारिभाषा-सूत्रों द्वारा ग्रन्थ में प्रतिपादित विषय को सरलता से समझा जा सकता है।

4. वाजसनेयि प्रतिशाख्य में सूत्रकार ने 'हि' सूत्र के द्वारा सम्पूर्ण विधानों को तीन कालों में विभक्त किया हैं इस प्रकार से सूत्र विभाजन सर्वथा नवीन प्रयोग है।

5. वासजनेयि प्रातिशाख्य के प्रत्येक अध्याय की समाप्ति का सङ्केत सूत्रकार द्वारा 'वृद्धं वृद्धिः इति' इस शास्त्र महत्त्व प्रतिपादक एवं मङ्गलात्मक सूत्र से किया है। प्रातिशाख्य के अध्ययन में पाठकों की रुचि बढ़ाने के लिये इस सूत्र को सूत्रकार ने प्रत्येक अध्याय की समाप्ति में रखा है।

6. सम्पूर्ण प्रातिशाख्य सूत्र रूप में उपन्यस्त किया गया है, जिसके परिणामस्वरूप 'छन्दोभङ्ग' जैसे दोष की आशङ्का नहीं रही एवं कवित्व के चक्कर में छोटी-छोटी बातों को घुमा-फिराकर कहने का कोई स्थान नहीं रहा।

वाजसनेयि-प्रातिशाख्य की विशेषताएँ

1. वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में वर्णसमाम्नाय का सूत्रकार ने स्पष्ट रूप से कथन किया है। अन्य दूसरे प्रातिशाख्यों में समाम्नाय का इस प्रकार का कथन नहीं किया गया है। फलस्वरूप भाष्यकारों को इस विषय में ऊहापोह नहीं करना पड़ा है तथा वाजसनेयि प्रातिशाख्य में स्वीकृत वर्णों की संख्या के विषय में हमे असंदिग्ध ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

2. भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से वाजसनेयि-प्रातिशाख्य का अत्यधिक महत्त्व है। वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में सूत्रकार आचार्य कात्यायन ने वर्णों के स्वरूप एवं उनके उच्चारण प्रकार का गंभीर एवं वैज्ञानिक विवेचन किया हैं वर्णोत्पत्ति के मूल कारण एवं वर्णोत्पत्ति की प्रक्रिया के विषय में सूत्रकार ने जो विवेचन किया है व ध्वनि-शास्त्र की दृष्टि से अन्यत्र महत्त्वपूर्ण हैं इसी प्रकार पद विषयक विधान पद-विज्ञान की दृष्टि से उपयोगी है।

3. वैदिक-स्वर, वैदिक-सन्धि, पद-पाठ, क्रम-पाठ, के विषय में वाजसनेयि प्रतिशाख्य में अत्यन्त उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण विधान मिलते हैं।

4. इस प्रातिशाख्य की एक मुख्य विशेषता यह भी है कि प्रातिशाख्यकार ने अपने मत को स्पष्ट करने के लिये तथा अन्य शाखाओं के पाठ-सिद्धि के लिये अनेक आचार्यों के मतों को उल्लेख किया है। इन आचार्यों

की संख्या 9 से अधिक है और उनके नाम इस प्रकार हैं– कण्व (1/123,149), शाकटायन (3/9/12), शाकल्य (3/10,11), औपशिवि (3/139), काश्यप (4/5, 4/160), गार्ग्य (4/167), जातूकर्ण्य (4/125, 4/160, 5/22), दालभ्य (4/16), माध्यन्दिन (8/39), शौनक (4/122)। इन आचार्यों के अतिरिक्त एके (3/39, 3/128, 4/188), एकेषाम् (4/57, 4/128) शब्दो से भी मतों का उल्लेख किया है।

5. इस प्रातिशाख्य में यज्ञ-प्रकरण सम्बन्धी कतिपय विधान बतलाये गये हैं तथा संहिता के अंशों को उनमें प्रतिपादित यज्ञों के नामों से निर्दिष्ट किया गया है। यथा– समानोऽनश्वमेधे (वा0प्रा0 5/36)।

6. यजुर्वेद में यजुष् रूप गद्यात्मक मंत्रों की अधिकता है। तथापि ऋक् संज्ञक (पदवद्ध) मन्त्र भी कम नहीं हैं। सूत्रकार ने ऋक् तथा यजुष् मन्त्रों के स्वरूप से भी कतिपय विधान दिये हैं। यथा– वा0प्रा0 4/81, 4/79 आदि।

7. सूत्रकार ने व्याकरण प्रसिद्ध तिङ्, कृत्, तद्धित, समास जैसी प्राचीन संज्ञाओं तथा उसके नियमों का न्याय शब्द से समादर किया।

इन उपर्युक्त अनेक विशेषताओं से आचार्य कात्यायन की रचना शुक्लयजुः प्रातिशाख्य एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

सूत्रकार कात्यायन एवं उनकी रचनाएँ

आचार्य कात्यायन के विषय में प्राच्य एवं प्रातीच्य विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है तथापि उन विद्वानों में परस्पर पर्याप्त मतभेद है। सूत्रकार कात्यायन से सम्बन्धित कतिपय तथ्यों को यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

त्रिकाण्डशेषकोष के रचयिता पुरुषोत्तम देव के अनुसार कात्यायन के पाँच नाम– मेघाजति्, कात्य, कात्यायन, पुनवर्सु और वररुचि है।[1] महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी कात्य, कात्यायन और वररुचि नामों का उल्लेख किया है।[2]

---

1. मेधावी वाथ मेधाजित्कायः कात्यायनश्च सः।
   पुनर्वसुर्वररुचिर्गोनर्दीयः पतञ्जलिः।। –त्रिकाण्डशेषकोष 2/25.
2. प्रोवाच भगवान् कात्यस्तेनासिद्धिर्यगस्तुते। – महाभाष्य 3/2/3.

भाषा वृत्त में पुनर्वसु और वररुचि को पर्यायवाची बतलाया गया है।[1] कथासरित्सागर में श्रुतधर नाम भी वररुचि कात्यायन के लिए प्रयुक्त हुआ है।[2] हेमचन्द्र के कोष में मेधाजित्, वररुचि और पुनर्वसु नाम कात्यायन के ही कतलाये गये हैं।[3]

संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध आचार्य कौटिल्य के लिए जिस प्रकार वात्स्यायन एवं पाणिनि के लिए शालातुरीय संज्ञा प्रसिद्ध है उसी प्रकार कात्यायन के लिए उक्त नाम ग्रन्थकारों ने उद्धृत किये है। श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने पारस्कर नाम कात्यायन का सिद्ध किया है।[4]

ऋक् सर्वानुक्रमणी के भाष्यकार षड्गुरुशिष्य ने श्लोकात्मक अपनी भूमिका में कात्यायन को आचार्य शौनक का शिष्य एवं आश्वलायन का सतीर्थ्य बतलाया है। कात्यायन की रचनाओं में वाजिसूत्र, उपग्रन्थ, स्मृति, भ्राजमान श्लोक, ब्रह्मारिका, पाणिनीय महावार्तिक एवं सर्वानुक्रमणी का उल्लेख किया है।[5] स्कन्दगुप्त ने अपने श्रीकृष्णचरित काव्य के प्रारम्भ में लिखा है कि वररुचि कात्यायन ने पाणिनीय व्याकरण को अपनी रचना वार्तिक से जिस प्रकार पुष्ट किया उसी प्रकार स्वर्गारोहण काव्य की रचना कविकर्म की कुशलता भी बतलायी है।[6] प्रतिज्ञा परिशिष्ट में भाष्यकार अनन्तदेवयाज्ञिक ने कात्यायन

---

1. पुनर्वसुर्वररुचिः। 4/3, 34.
2. एष श्रुतधरो जातो विद्यां वर्षादवाप्स्यति। 1/2/69-70.
3. कात्ययनो वररुचिर्मेधाजिच्च पुनर्वसुः। अभिधान चिन्तामणि, 3/852.
4. याज्ञवल्क्यस्य पुत्रः कात्यायनीत जातः कात्यायनः परासां शाखानां ग्रन्थनिर्माण-करणात पारस्कर इति नाम्ना प्रसिद्धः।। – का0सं0भू0 16 पृष्ठ.
5. शौनकस्य तु शिष्योऽभूद् भगवानाश्वलायनः।......शौनकस्य प्रसादेन कर्मज्ञः समद्यत। कात्यायन मुनिः.......वाजिनां सूत्रकृत् साम्नामुपग्रन्थस्य कारकः। स्मृतेश्च कर्त्ता श्लोकानां भ्रजमानां च कारकः। अथर्वणां निर्ममे यः सम्यग्वे ब्राह्मकारिकाः। महावार्त्तिकमाकारः पाणिनीय महार्णवे। यत्प्रणीतानि वाक्यानि भगवांस्तु पतञ्जलिः। व्याख्यच्छान्तनवीयेन महाभाष्येण हर्षितः तपोयोगान्निर्ममे यः सर्वानुक्रमणीमिमाम्। ऋक्सर्वानुक्रमणी षड्गुरुशिष्यकृत भूमिका।
6. यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान्भुवि। भाव्येन रुचिरेणैव ख्यातो वररुचिः कविः। न केवलं व्याकरणं पुपोष दाक्षीसुतस्येरित वार्त्तिकयः। काव्योऽपि भूयोऽनुचकार तं वै कात्यायनो सो कविकर्म दक्षः।।

को कल्पसूत्र एवं 1.8 परिशिष्ट ग्रन्थों के रचनाकार रूप से उल्लेख किया है।[1]

स्कन्दपुराण नागर खण्ड अध्याय 130-31 के अनुसार कात्यायन महर्षि याज्ञवल्क्य के पुत्र थे जो याज्ञवल्क्य की पत्नी कात्यायनी की सन्तान थे। ये यज्ञ विद्या विचक्षण एवं वेदसूत्रों के रचयिता थे। इस कात्यायन के वररुचि नामक एक पुत्र था।[2] वृतजातसमुच्चय नामक प्राकृत छन्दोग्रन्थ के टीकाकार चक्रपाल पुत्र गोपाल ने प्रारम्भ में छन्दः शास्त्र के रचयिताओं में पिङ्गलादि की भाँति कात्यायन को भी नमस्कार किया है। अमरकोष के एक हस्तलेख में 18 कोषकारों की गणना है जिसमें वररुचि और कात्यायन को भिन्न-भिन्न कोषकार के रूप में निर्दिष्ट किया है। कातन्त्र व्याकरण के वृत्तिकार दुर्ग सिंह के लेख से यह ज्ञात होता है कि षट्पादीय कृत् प्रकरण के रचयिता कात्यायन हैं।

पाश्चात्य विद्वानों का मत

आचार्य कात्यायन के सम्बन्ध में मैक्समूलर बेवर तथा गोल्डस्टुकर ने भी अपने विचार प्रस्तुत किये हैं किन्तु तीनों ही विद्वान् भिन्न-भिन्न निष्कर्ष पर पहुँचे है। मैक्समूलर ने कात्यायन के सम्बन्ध में विचार की आधारशिला रखी। मैक्समूलर का मत कथासरित्सागर के रचयिता सोमदेव के लेख पर आधारित है। उनका निष्कर्ष है कि गुरु शिष्य की 5 पीढ़ी थी शौनक, आश्वलायन, कात्यायन, पतञ्जलि और व्यास।[3] कात्यायन और वररुचि एक ही व्यक्ति थे तथा वररुचि कात्यायन पाणिनि के समकालीन थे।[4] किन्तु सभी प्रातिशाख्य पाणिनी अष्टाध्यायी से पूर्व लिखा गया है।[5] मैक्समूलर के अनुसार रचनाओं

---

1. कल्पानष्टादशपरिशिष्टानि च प्रणीतवतो भगवतः कात्यायनस्य। – प्र0परि0 1/1.
2. एवं सिद्धि समापन्नो याज्ञवल्क्यो द्विजोतमः।.... जनकाय नरेन्द्राय व्याख्याय च ततः परम्। कात्यायनसुत्र प्राप्य वेदसूत्रस्य कारकम्। स्कं0पु0ना0खं0 130/70-71।। कात्यायनमिवं च यज्ञविद्याविचक्षणम् पुत्रो वररुचिर्यस्य बभूव गुणसागरः। – स्कं0पु0ना0खं0 131/48-49.
3. History of Ancient Sanskrit Literature, p. 125.
4. द्र0 वही, पृष्ठ 71.
5. द्र0 वही, पृष्ठ 71.

का क्रम इस प्रकार है– (1) कात्यायन प्रातिशाख्य, (2) पाणिनीय-व्याकरण, (3) कात्यायनीय-वार्त्तिक। मैक्समूलर ने कथासरित्सागर की कथा के आधार पर कात्यायन को ई0पू0 चतुर्थ शताब्दी के उत्तरार्ध अर्थात् 350 ई0पू0 का सिद्ध किया है।[1]

आटो बोथलिङ्क के अनुसार भी कात्यायन का समय ई0पू0 चतुर्थ शताब्दी का मध्य है। राजतरंगिणी के एक सन्दर्भ के अनुसार राजा अभिमन्यु ने चन्द्र एवं अन्य वैयाकरणों को पतञ्जलि के महाभाष्य को कश्मीर देश में पढ़ाने का आदेश दिया था। आटो बोथलिङ्क का अनुमान है कि राजा अभिमन्यु का काल ई0पू0 100 वर्ष है और इस सूत्र से उन्होंने पाणिनि का काल ई0पू0 350 वर्ष निर्धारित किया है।[2] इस प्रकार भी कात्यायन ई0पू0 चतुर्थ शताब्दी के मध्य में आते हैं। लसेन द्वारा उपर्युक्त मत का खण्डन किया गया।[3] इनके अनुसार पाणिनि ई0पू0 द्वितीय शताब्दी के लगभग के स्थिर होते हैं। वेबर और मैक्डानल के दृष्टिकोण के विरुद्ध दो भिन्न-भिन्न कात्यायन माने हैं।[4] किन्तु दोनों ही इस बात में मैक्समूलर से सहमत है कि वा0प्रा0 पाणिनि पूर्व की रचना है। मैक्डानल के अनुसार एक कात्यायन परिशिष्ट ग्रन्थों एवं वा0प्रा0 के रचयिता थे तथा दूसरे कात्यायन पाणिनि व्याकरण के वार्त्तिककार थे। उनका तर्क है कि कुछ वैदिक भाषा की विशेषताएँ एवं उनके रूप जो कि पाणिनि व्याकरण से सिद्ध नहीं हैं, वे परिशिष्ट ग्रन्थों में प्राप्त होते है।

गोल्डस्टुकर का मत है कि वा0प्रा0 के रचयिता एवं वार्त्तिककार कात्यायन एक ही है। उनके अनुसार कात्यायन ने पहले महावार्त्तिक लिखा एवं तदनन्तर वा0प्रा0 की रचना की। गोल्डस्टुकर का कथन है कि वैदिक भाषा पर पाणिनि के विधान अपूर्ण थे और कात्यायन द्वारा उनकी न्यूनतापूर्ति प्रातिशाख्य में की गयी। इस प्रकार पाणिनि द्वारा परित्यक्त तथ्यों की पूर्ति हेतु सूत्ररूप में उन नियमों का कथन अपने प्रातिशाख्य में कात्यायन ने किया और इसी

---

1. Katyayan May be placed, according to the interpretation of the Somadeva's story, in the second half of the fourth century B.C. — History of the ancient Sanskrit Literature, p. 127
2. Commentry of Panini By Otto Bohtlingk, p. 17-18.
3. Indische Alterthumskunde, Voltt., p. 413.
4. Preface of Katyayan Pratisakhya, Edited by A. Wefer.

तरह के उद्देश्य से उन्होंने अपना वार्त्तिक भी लिखा।[1] इस प्रकार गोल्डस्टुकर एक कात्यायन मानने में तो मैक्समूलर से सहमत हैं किन्तु सभी प्रातिशाख्यों को पाणिनि व्याकरण से परवर्ती मानकर उन्होंने मैक्समूलर और वेबर के मत का खण्डन ही नहीं किया अपितु रॉथ, बर्नेल और लाइबिच के मत से भी असहमति प्रदर्शित की। राथ ने प्रातिशाख्यों को पाणिनि व्याकरण का मार्गदर्शक अग्रगामी आदर्श उदाहरण के रूप में माना है।[2] बर्नेल का भी मत है कि वा0प्रा0 पाणिनिय व्याकरंण से पूर्व का है।

वाजसनेयि प्रातिशाख्य की टीकायें

वाजसनेयि-प्रातिशाय की दो टीकायें आज तक प्रकाशित हुई हैं–

(1) उवटकृत 'मातृमोद' नामक भाष्य
(2) अनन्तभट्टकृत 'पदार्थ प्रकाश' नामक भाष्य।

भाष्कार उवट एवं उनकी कृतियाँ

आचार्य उवट ने वाजसनेयि प्रातिशाख्य के प्रत्येक भाष्य के अन्त में कतिपय पदों के हेरफेर से यह पुष्पिका लिखी है– "इन्यानन्दपुरवास्त-व्यवज्रटसूनुना उवटेन कृते मातृमोदाख्ये प्रातिशाख्यभाष्ये ......अध्यायः समाप्तः" अर्थात् आनन्दपुर निवासी वज्रट के पुत्र उवट की कृति 'मातृमोद' नामक प्रातिशाख्य भाष्य में ......अध्याय समाप्त हुआ। इसी प्रकार ऋ0प्रा0 के भाष्य के अन्त में उन्होंने यह लिखा है– इति श्री पार्षादव्याख्यामानन्दपुर वास्तव्यवज्रट पुत्र उवटकृतौ प्रातिशाख्य सूत्र भाष्ये......पटलम.......अर्थात् आनन्दपुर निवासी वज्रट के पुत्र उवट की कृति पार्षदव्याख्यात्मक प्रातिशाख्य सूत्र भाष्य में......पटल समाप्त हुआ। यजुर्वेद संहिता के भाष्य के अन्त में भी उपर्युक्त आशय श्लोक रूप में उन्होंने इस तरह लिखा है; आनन्दपुरवास्तव्य-वज्रटाख्यस्य सूनुना। उवटेन कृतं भाष्यं पद- वाक्यैः सुनिश्चितै" ऋष्यादिश्च नमस्कृत्य अवन्त्यामुवटो वसन् मन्त्राणां कृतवान् भाष्यं महीं भोजे प्रशासति।

अर्थात् आनन्दपुर के निवासी वज्रट के पुत्र उवट ने सुनिश्चित पदों और वाक्यों से समन्वित भाष्य किया। ऋषि आदियों को नमस्कार करके अवन्ती

---

1. Panini his Place in Sanskrit Literature, page 200, 205, 212 & 217
2. Preface of the Nirukta, p. xi, iii Edited by Roth.

में निवास करते हुए उवट ने मन्त्रों का भाष्य किया जब भोज पृथ्वी का शासन कर रहा था।

उपर्युक्त तीनों उद्धरणों से यह ज्ञात होता है कि–

(1) आचार्य उवट आनन्दरपुर के निवासी वज्रर के पुत्र थे।

(2) उन्होंनें राजा भोज के शासन काल में अवन्ती में रहकर शुक्ल यजुर्वेद के भाष्य की रचना की थी। नामकरण की शैली से उवट का मूल स्थान काश्मीर ज्ञात होता है।

(3) काव्य प्रकाश के टीकार भीमसेन ने जैय्यट के तीन पुत्रों में उवट, कैय्यट के ज्येष्ठ भ्राता मम्मट (काव्यप्रकाश के रचयिता) को बतलाया हैं यद्यपि उवट के पिता का नाम वज्रट ही मिलता है तथापि माध्यन्दिन संहिता के 20 वें अध्यायान्त की पुष्पिका में वज्रट के स्थान पर जैय्यट नाम उपलब्ध होता है। अतः यह अनुमान किया जाता है कि वज्रट का ही जैय्यट यह उपनाम रहा होगा।

आचार्य उवट की रचनायें ये हैं– (1) ऋग्वेद-प्रातिशाख्य पर भाष्य, (2) वाजसनेयि-प्रातिशाख्य पर भाष्य, (3) शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता पर भाष्य, (4) ऋक् सर्वानुक्रमणी पर भाष्य, (5) ईशावास्य उपनिषद् पर भाष्य।

उवट का काल

राजा भोज ने 1018 ई0 से लेकर 1060 ई0 तक शासन किया। राजा भोज के समकालीन होने के कारण उवट का भी समय यही अर्थात् ग्यारहवी शताब्दी का मध्यकाल है।

वा0प्रा0 के भाष्यकार उवट की कुछ विशेषताओं को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है–

(1) भाष्यकार ने सूत्रकार की पुष्टि किया है। उन्होंने सूत्रों की सार्थकता को स्थापित किया है, सूत्र में स्थित सभी पदों की उपयोगिता को दिखलाया है तथा सूत्रों में प्रतीयमान विरोधों का परिहार किया है।

(2) उनका भाष्य न अधिक संक्षिप्त है एवं न अधिक विस्तृत।

(3) उन्होंने अनावश्यक विवादों से बचने का प्रयास किया है।

(4) सूत्रों को समझाने के लिए उन्होंने उदाहरणों और प्रत्युदाहरणों को प्रस्तुत किया है। जहाँ सूत्रों के उदाहरण संहिता में नहीं मिले हैं वहाँ उन्होंने दूसरी शाखाओं से उदाहरण दिये हैं अथवा लौकिक (रूप) उदाहरणों को प्रस्तुत किया है।

(5) विषय को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने शिक्षा ग्रन्थों इत्यादि से कारिकाओं को भी उद्धृत किया है।

(6) अने भाष्य में उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का प्रतिपादन किया है। यथा– प्रातिशाख्य का क्षेत्र (1/1) पदभक्तियाँ (2/1), सोष्म-संज्ञा (1/54), क्रमपाठ की उपयोगिता (4/182) इत्यादि।

भाष्यकार अनन्त एवं उनकी कृतियाँ

भाष्यकार अनन्त ने वा0प्रा0 के प्रत्येक अध्याय के भाष्य के अन्त में कतिपय पदों के हेरफेर से यह पुष्पिका लिखी है..... श्री मत्प्रथमशाखिना नागदेवभट्टात्मजेन विरचिते कात्यायन प्रणीत प्रातिशाख्य सूत्रभाष्ये..... अध्यायः समाप्तः। अर्थात् प्रथम (काण्व) शाखीय श्रीमान् नागदेव भट्ट के पुत्र श्री अनन्त भट्ट द्वारा विरचित कात्यायन प्रातिशाख्य सूत्रभाष्य में.... अध्याय समाप्त हुआ। इसके अतिरिक्त वा0प्रा0 के भाष्य समाप्ति पर उपसंहार में अपना परिचय देते हुए लिखा है..... जिसकी भागीरथी माता है ऐसे नागदेव के पुत्र अनन्त ने प्रातिशाख्य का वर्णन (अर्थात् भाष्य) विरचित किया है।[1] इसी प्रकार अनन्त के काण्व संहिता के उत्तरार्द्ध पर लिखे गये भाष्य की पुना स्थित पाण्डुलिपि में जो उद्धरण मिलता है इसका अभिप्राय है– भागीरथी जिसकी माता है, विद्वान् नागदेव जिसके पिता हैं तथा जिसका सर्वदा काशी में निवास है और चित्त रमाप्रिय अर्थात् विष्णु में है। उपर्युक्त उद्धरणों से ज्ञात होता है कि (1) आचार्य अनन्त की माता का नाम भागीरथी तथा पिता का नाम श्री नागदेव भट्ट था। (2) ये काण्वशाखीय थे (3) इनका निवास काशी में था।

---

1. अम्बा भागीरथी यस्य नागदेवात्मजः सुधीः।
तेनान्तेन रचितं भाषितं प्रातिशाख्यस्य वर्णनम्।।

आचार्य अनन्त भट्ट ने काण्वसंहिता की उत्तरविंशति (उत्तरार्ध के बीस अध्यायों) पर भाष्य लिखा है इसके अतिरिक्त वा0प्रा0 पर पदार्थ प्रकाश नामक भाष्य, भाषिक सूत्र पर इन्होंने भाष्य लिखा है।

अनन्त भट्ट का काल

आचार्य अनन्त कण्ठाभरण नामक अपने कण्व संहिता के भाष्य में होलीरभाष्य को उद्धृत किया है। याजुष्सर्वानुक्रमणी का होलीरभाष्य द्वितीय शताब्दी के लगभग का सामान्यतया माना जाता है। इसके अतिरिक्त अनन्त ने सायण माधव को भी कतिपय स्थलों पर उद्धृत किया है। अतः अनुमानतः अनन्त का काल तीसरी या चौथी शताब्दी के मध्य ज्ञात होता है।

उल्लेखनीय है कि काण्वशाखीय अनन्त भट्ट के अतिरिक्त एक माध्यन्दिनशाखीय अनन्त भी हैं जिन्होंने प्रतिज्ञा परिशिष्टसूत्र, जटादि विकृति लक्षण आदि पर भाष्य लिखा है। अनन्तभट्ट के भाष्य के विषय में कतिपय तथ्यों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है– (1) इस भाष्य में मौलिकता का अभाव है। अनन्तभट्ट ने उवट भाष्य को ही अधिकांशतः अपनाया है। उवट के भाष्य में दिये गये उदाहरणों एवं प्रत्युदाहरणों को ही उन्होंने प्रायः अपने भाष्य में दिया है। (2) अनन्तभट्ट काण्वशाखा के अनुयायी थे। उन्होंने अपने भाष्य में काण्व संहिता से ही उदाहरणों एवं प्रत्युदाहरणों को प्रस्तुत किया है। अनन्तभट्ट ने अनेक स्थलों में माध्यन्दिन-संहिता और काण्व-संहिता के पाठ भेद को बतलाया है, जो उपयोगी है। (3) कतिपय स्थलों में अनन्त भट्ट के उवट के द्वारा अनुक्त महत्त्वपूर्ण तथ्यों को भी बतलाया है। यथा– वा0प्रा0 1/1/ के सन्दर्भ में उन्होंने प्रातिशाख्य के क्षेत्र के विषय में विस्तारपूर्वक जो विचार प्रस्तुत किया है वह नितान्त महत्त्वपूर्ण है। 4/129 और 4/191 के सन्दर्भ में उन्होंने शाकटायन पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार प्रस्तुत किया है। (4) सूत्रों की व्याख्या करते समय उन्होंने अनेक नवीन उदाहरण एवं प्रत्युदाहरण भी प्रस्तुत किये है। (5) अनेक सूत्रों का अनन्त भट्ट भाष्य उवट भाष्य की अपेक्षा विस्तृत एवं उपयोगी है। यथा 4/170 इत्यादि क्रमपाठ विषयक सूत्रों के भाष्यों को देखा जा सकता है। (6) अनेक स्थलों पर अनन्तभट्ट ने नामोल्लेख किये बिना उवट के मत का युक्तिपूर्वक खण्डन किया है। यथा– 2/12, 2/21, 4/61 इत्यादि सूत्रों के भाष्य में।

चतुरध्यायिका का महत्त्व

यह अथर्व वरण में सम्बन्धित प्रातिशाख्य है। अतः इसे अथर्ववेदप्रातिशाख्य भी कहा जाता है।

इस ग्रन्थ में चार अध्याय है। चार अध्याय होने के कारण ही सम्भवतः इसका नाम चतुरध्यायिका रखा गया है। यह मुख्यतः अथर्ववेद की शौनक शाखा से सम्बन्धित है। अतः इसे शोनकीय चतुरध्यायिका भी कहा जाता है। चतुरध्यायिका का सूत्रानुवाद तथा व्याख्यासहित सम्पादन अमेरिकन विद्वान् प्रो0 ह्विटनी ने किया।

चतुरध्यायिका के प्रथम अध्याय में ध्वनियां और उनका विभाजन, अभिनिधान, अक्षर और उनकी मात्रा, विकार, आगम इत्यादि का विवेचन किया गया है।

द्वितीय अध्याय में अन्तिम स्पर्शों (ङ, ञ, ण्, न्, म्) की सन्धि विर्जनीय सन्धि, निपातन से प्राप्त होने वाली सन्धियां और ऊष्मवर्णों से विकार इत्यादि विषयक विधान किये गयें हैं।

तृतीय अध्याय में दीर्घत्व, द्वित्व, स्वर वर्णों का अन्तस्थाभाव, स्वर-सन्धि, स्वरित स्वर और उनके प्रकार, णकारभाव इत्यादि विषयक विधान प्रस्तुत है।

चतुर्थ अध्याय में अवग्रह, प्रगृह्य, क्रमपाठ और उसके प्रयोजन पर प्रकाश डाला गया है।

चतुरध्यायिका की विशेषता

चतुराध्यायिका की विशेषता चार विभागों के अन्तर्गत विभक्त की जा सकती है– 1. परिचयात्मक विवरण, 2. सन्धि सम्बन्धी विवरण, 3. स्वर-सम्बन्धी विवरण, 4. पदपाठ-सम्बन्धी विवरण।

उल्लेखनीय है कि चतुराध्यायिका में– 1. वर्णोच्चारण, तथा 2. क्रमपाठ इन दोनों विषयों का भी प्रतिपादन किया गया है।

चतुरध्यायिका का परिचयात्मक विवरण

चतुराध्यायिका अथर्ववेद की शौनक शाखा से सम्बन्धित है। चतुरध्यायिका में अथर्ववेद से 18 काण्डों के विषय में ही नियमों का विधान किया गया है। 19 काण्डों को पूर्णतया छोड़ दिया गया है।

चतुरध्यायिका के अन्त में उपलब्ध पाठ के अनुसार उसके प्रवक्ता कौत्स नामक आचार्य है। किन्तु यह सर्वमान्य नहीं है।

चतुरध्यायिका का प्रयोजन

चतुरध्यायिका में प्रातिशाख्य का प्रयोजन बतलाते हुए कहा गया है– सामान्य व्याकरण के द्वारा जो विकल्प प्राप्त होता है वह इस शाखा में इस प्रकार व्यवस्थित है। अतएव व्याकरण शास्त्र सामान्य नियमों का विधान करता है और प्रातिशाख्य विशेष नियमों का विधान करते हैं। चतुरध्यायिका की विषय सीमा को निर्धारित करते हुए सूत्रकार ने पद की चार जातियाँ बतलायी है– 1. नाम, 2. आख्यात, 3. उपसर्ग, एवं 4. निपात।

उनके गुण संहितापाठ एवं पद-पाठ में निहित है, यही मेरे अध्ययन का विषय है। इस प्रकार चतुरध्यायिका पूर्णतः प्रातिशाख्य ग्रन्थ है उसमें सभी महत्त्वपूर्ण विषयों का प्रतिपादन किया गया है, जो अन्य सभी प्राचीन प्रातिशाख्यों में उपलब्ध होते है। अपने पद-पाठ, क्रमपाठ तथा समापत्ति विषयक विधानों के कारण चतुरध्यायिका का अन्य प्रातिशाख्यों में विशिष्ट स्थान है। अतएव चतुरध्यायिका अपने प्रयोजन की सिद्धि में समर्थ है, क्योंकि उसमें विहित नियमों के आधार पर शौनक संहिता के प्रत्येक वर्ण, सन्धि, स्वर, पद तथा क्रम के विषय में ज्ञान हो जाता है।

चतुरध्यायिका का स्वरूप

अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वेदों के गुरुभूत अथर्ववेद से सम्बन्धित चतुरध्यायिका ग्रन्थ चार अध्यायों में विभक्त है और प्रत्येक अध्याय-4-4 पादों में विभक्त है। सम्पूर्ण ग्रन्थ सूत्र रूप में उपनिबद्ध है। प्रो0 ह्विटनी के अनुसार सूत्रों की सम्पूर्ण संख्या 434 है। अत एव चतुर्थ अध्यायों एवं 16 पादों में विभक्त सूत्रों का विवरण इस प्रकार है–

अध्याय	पाद			
	1	2	3	4
1.	1-41=41	41-62=21	61-91=29	91-105=14
2.	1-39=39	39-59=20	60-80=21	81-107=27
3.	1-25=25	26-54=29	55-74=20	75-96=22
4.	1-46=46	47-72=26	73-100=28	101-126=26

डॉ0 जमुना पाठक के अनुसार सूत्रों की संख्या 523 है जो इस प्रकार है–

अध्याय	पाद				
	प्रथम पाद	द्वितीय पाद	तृतीय पाद	चतुर्थ पाद	योग
1	41	21	29	19	110
2	29	20	21	27	107
3	25	31	40	30	126
4	99	26	28	27	180
कुल योग					523

चतुरध्यायिका के मुख्य विषय

चतुरध्यायिका का मुख्य प्रतिपाद्य विषय पदों से संहिता-पाठ का निर्माण करता है। चतुरध्यायिका के चतुर्थ अध्याय में पद-पाठ विषयक नियमों का विधान किया गया है।

चतुरध्यायिका के मुख्य विषय ये है

1. ध्वनिविषयक विधान– प्रथम अध्याय के लगभग 79 सूत्रों में वर्णों के स्वरूप, वर्णों के उच्चारण-प्रकार, वर्णों के उच्चारण में प्रयत्न, संयोगविषयक उच्चारणवैशिष्ट्य इत्यादि महत्त्वपूर्ण विषयों का विधान किया गया है।

2. सन्धिविषयक विधान– पदों से संहिता पाठ का निर्माण करना प्रातिशाख्य ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है और सन्धि के नियमों के आधार पर पदों से संहिता निष्पन्न होती है। अतः अपने मूल उद्देश्य की पूर्ति हेतु चतुरध्यायिका में भिन्न-भिन्न प्रकार की सन्धियों का विस्तार से प्रतिपादन किया

गया है।

3. स्वरविषयक विधान– वेद मन्त्रों का उच्चारण परम्परा रीति से उदात्तादि स्वरों के साथ किया जाता है। स्वरविहीन वेद-मन्त्रों के उच्चारण का कोई महत्त्व नहीं है। अतएव चतुरध्यायिका में उदात्तादि मुख्य स्वरों के विषय में विधान किया गया है।

4. पद-पाठविषयक विधान– पदों के आदि, अन्त, वैदिक शुद्ध स्वरूप, स्वर तथा अर्थ के ज्ञान के लिए पद-पाठ का अध्ययन विशेष उपयोगी है। चतुरध्यायिका में विग्रह अवग्रह, चर्चा, समापत्ति विषयक नियमों का विधान सूक्ष्मता से किया गया है।

5. क्रम-पाठविषयक विधान– संहिता-पाठ और पद-पाठ की दृढ़ता के लिए क्रम-पाठ का अध्ययन किया जाता है। चतुरध्यायिका चतुर्थ अध्याय तथा प्रथम अध्याय के कुछ सूत्रों में क्रम-पाठ सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण नियमों का विधान किया गया है तथा वेदाध्ययन के महत्व के विषय में भी बतलाया गया है।

चतुरध्यायिका की प्रमुख विशेषता

चतुरध्यायिका की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

अथर्ववेद की विशिष्टताओं के निरूपण के लिए चतुरध्यायिका के सूत्रधार ने दो प्रकार के सूत्रों का निर्माण किया है– (1) सामान्य सूत्र, (2) तथा अपवाद सूत्र। सामान्य सूत्र के आधार पर विस्तृत क्षेत्र वाली विधियों का ज्ञान होता है और अपवाद सूत्रों के आधार पर अल्प क्षेत्र वाली विधियों का ज्ञान होता है।

चतुरध्यायिका में 165 पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है।

चतुरध्यायिका में विहित सन्धिविषयक नियमों के सम्यक् ज्ञान के लिए दो परिभाषा सूत्रों का भी विधान किया गया है।

चतुरध्यायिका के दोष

यद्यपि विषय विधान की दृष्टि से चतुरध्यायिका महत्वपूर्ण सिद्ध होती है तथापि इस ग्रन्थ में दिखलायी पड़ने वाले दोष इसके महत्त्व को कम देते हैं।

1. चतुरध्यायिका के कुछ सूत्रों में उद्धृत शब्द अ0सं0 में नहीं मिलते हैं।

2. चतुरध्यायिका में विहित कुछ नियमों के उदाहरण संहिता में नहीं मिलते हैं।

3. ग्रन्थ की विषय सीमा का अतिक्रमण अनेक सूत्रों में हुआ है।

4. चतुरध्यायिका में विहित कुछ नियमों के अपवाद अ0 सं0 में मिलते है किन्तु इनका उल्लेख नहीं किया गया है।

5. चतुरध्यायिका में कुछ ऐसे नियमों का विधान किया गया है जिनके अनुसार अ0 सं0 में पाठ नहीं मिलता है।

6. चतुरध्यायिका के कुछ सूत्रों में बहुल शब्द के प्रयोग से प्रतिपादित विषय सन्दिग्ध हो गये है।

7. चतुरध्यायिका में शौनक 1.1.8 तथा शाकटायन 2.1.24 आचार्यों के अतिरिक्त अन्य किसी प्राचीन आचार्य का नामोल्लेख नहीं किया गया है।

चतुरध्यायिका के भाष्य

(1) चतुरध्यायी भाष्य– प्रो0 ह्विटनी ने अपने संस्करण की भूमिका में अज्ञातकर्त्ता वाले चतुरध्यायी नामक भाष्य का उल्लेख किया है जो उसे बर्लिन के रायल पुस्तकालय के चैम्बर कलेक्सन नं0 143 वेबर नं0 361 से प्राप्त हुआ। इस भाष्य के अन्त में यह पाठ मिलता है- "श्रीरस्तु। लेखक पाठकयोः शुभ भवतु। श्री चण्डिकायै नमः। श्री रामः। संवत् 1714 वर्षे ज्येष्ठ शुद्ध 9 दिने समाप्तलिखितम् पुस्तकम्।" इसके अनुसार यह भाष्य मई सन् 1656 में लिखा गया है। ह्विटनी महोदय की व्याख्या के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि जगह-जगह इस भाष्य का अपभ्रष्ट पाठ है। ह्विटनी ने अपनी व्याख्या में जगह-जगह इस भाष्य की आलोचना किया है। सम्भवतः अपभ्रष्ट पाठ होने के कारण ह्विटनी ने अपने संस्करण में इसे प्रकाशित नहीं किया। अब तक यह भाष्य अप्रकाशित है।

(2) निर्मलभाष्यम्– आज तक चतुरध्यायिका का कोई भी भाष्य उपलब्ध नहीं हो सका था तथा भाष्य के बिना किसी भी सूत्रग्रन्थ के सूत्रों का सम्यक्

ज्ञान अतिश्रम- साध्य ही नहीं प्रत्युत दुरुह और कठिन है। चतुरध्यायिका भी सूत्र ग्रन्थ है अतः इसके सम्यक् अवबोध के लिए एक भाष्य आवश्यक है- इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के मूर्धन्य वैदिक विद्वान् डा0 जमुना पाठक ने चतुरध्यायिका के सूत्रों पर एक विद्वत्तापूर्ण प्रामाणिक निर्मलभाष्य नामक भाष्य लिखा जिससे वेदों का अध्ययन करने वाले लोगों को चतुरध्यायिका के सूत्रों का सम्यक् बोध हो जाता है। यह भाष्य प्रकाशित है।

निर्मलभाष्य की विशेषताएँ– (1) इसमें सूत्रों के अवबोध के लिए उनमें प्रयुक्त प्रत्येक पद का अर्थ किया गया है (2) गूढ़ तथ्यों वाले विषयों के स्पष्टीकरण हेतु अन्य प्रातिशाख्यों तथा शिक्षाग्रन्थों के तथ्यों की सहायता से विषय को सरलतापूर्वक समझने योग्य बना दिया गया है। (3) सूत्र में प्रयुक्त पदों के प्रयोग के प्रयोजन को जगह-जगह निर्दिष्ट किया गया है। (4) सूत्र के विषय में होने वाली शङ्काओं को उठाकर उनका समाधान प्रस्तुत किया गया है। (5) स्फोटन आदि ध्वनिविज्ञान-विषयक सूत्रों के तथ्यों का सूक्ष्मतया ध्वनिवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत कर देने से विषय सुगमतापूर्वक गृहीत हो जाता है। उन तथ्यों का उद्घाटन आज तक किसी भी प्रतिशाख्य के भाष्यकार नहीं किया था। (6) 'पुमो मकारस्य स्पर्शेऽघोषेऽनूष्मपरे विसर्जनीयोऽपुंश्चादि (अ0च0 2.1.25) इत्यादि जिन विधानों को ह्विटनी ने अनावश्यक तथा अनुपयोगी माना है, जो समुचित नहीं प्रतीत होता। ऐसे विधानों की भाष्य में आवश्यकता तथा उपयोगिता स्थापित की गयी है। इस प्रकार यह भाष्य चतुरध्यायिका के सूत्रों को समझने के लिए प्रामाणिक, आवश्यक तथा उपयोगी है।

भाष्यकार – डॉ0 जमुना पाठक

भाष्यकार का जन्म प्रथम जुलाई सन् 1947 को गाजीपुर जिले के सैदपुर के समीप पाठक की चकिया ग्राम में हुआ। इनके पिता कानाम दशरथ पाठक तथा माता का नाम बदामी देवी है। भाष्यकार ने भाष्य के अन्त में अपना परिचय दिया है। उनके अनुसार भाष्यकार के पूर्वज देवरिया जिले के पिण्डी ग्राम के निवासी थे जिनका गोत्र शाण्डिल्य था। वहाँ चक्र नामक कोई संस्कृत का पण्डित आकर गाजीपुर जिले में सैदपुर के समीप अपना आश्रम बनाकर अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया। उन्हीं के नाम पर उस स्थान का नाम चक्रपुर

पड़ गया जो आज चकिया नाम से जाना जाता है। पढ़ाने के कारण उन्हें लोक पाठक कहने लगे तभी से उनके वंशज आज भी पाठक कहलाते हैं। विष्णु और मथुरा नामक चक्र के दो पुत्रों में विष्णु की छठवीं पीढ़ी में गंगा हुए। गंगा के दो पुत्र थे- देवी और भवन। भवन भाष्यकार के प्रपितामह थे। इनके पितामह सत्यानारायण के अक्षयवर, दशरथ तथा चन्द्रमणि तीन पुत्र थे। इनके पिता दशरथ तथा चाचा चन्द्रमणि कर्मकाण्ड के प्रकाण्ड पण्डित थे। दशरथ के चार पुत्रों में ये सबसे बड़े हैं। इनके तीन छोटे भाई कृपाशंकर, गिरिजाशंकर तथा विजयशंकर हैं। इनकी शारदा नामक पत्नी से पीयूष, सुशील और सुधीर – तीन पुत्र तथा शशिप्रभा और शशिकला नामक दो पुत्रियाँ हैं।

भाष्यकार की प्रारम्भिक शिक्षा गाँव के ही विद्यालय से प्रारम्भ हुई। इण्टरमीडिएट के बाद शिक्षाकार्य में व्यवधान हो गया तथा जिला परिषद् के प्राथमिक विद्यालय में अध्यापन प्रारम्भ किया। अध्ययन में विशेष रुचि होने के कारण अध्यापन कार्य करते हुए ही व्यक्तिगत स्नातक की परीक्षा उत्तीर्ण करके अध्यापन कार्य से मुक्त हो गये तथा तदनन्तर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग से वेदवर्ग में स्नातकोत्तर तथा प्रातिशाख्य विषय पर पी-एच्0डी0 किया। सम्प्रति ये काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग में कार्यरत हैं तथा अहर्निश वेद भगवान् के सेवा में तल्लीन है। इनको उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान द्वारा सायण पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। श्रीनारायण तथा वीरेन्द्र कुमार वर्मा इनके शिक्षागुरु हैं जिनका स्मरण भाष्यकार ने अपने भाष्य के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण में आदरपूर्वक किया है।[1] जौनपुर जिले के घूरीपुर गाँव के पं0 बालमुकुन्द त्रिपाठी इनके दीक्षा गुरु हैं।[2]

---

1. नारायणं गुरुं नत्वा श्रिया सह विभूषितम्।
   ततश्च भारतीं देवीं वाणीं ब्रह्ममयीन्तथा।।
   आचार्यं प्रमुखञ्चैव वर्मोपाधिविभूषितम्।
   गुरुश्रेष्ठं तु वीरेन्द्रं कुमारेण च संयुतम्।। (मि0भा0 का मङ्गलाचरण)
2. बालमुकुन्द त्रिपाठी मम कुलगुरुः, जौनपुरमण्डलनिवासी के सखे मम,
   घूरीपुरं तस्य ग्रामस्तु विद्यते हे, गोडबडी विद्यते पत्रालयं हे सखे मम।
   (लो0श0 1/2)

भाष्यकार की अन्य कृतियाँ

(1) अथर्ववेदप्रातिशाख्य– इस ग्रन्थ पर भी भाष्यकार ने निर्मलभाष्य नामक भाष्य लिखा है। भाष्यकार के मत से चतुरध्यायिका ही अथर्ववेद का प्रातिशाख्य है तथा अथर्ववेदप्रातिशाख्य नाम वाला ग्रन्थ चतुरध्यायिका का परिशिष्ट तथा पूरक है। यह पाणिनि से परवर्ती नहीं प्रत्युत पूर्ववर्ती रचना है।

(2) वैदिक ध्वनिविज्ञानम्– कारिकारूप में उपनिबद्ध इस ग्रन्थ में कुल 279 कारिकाएँ हैं जिनमें वैदिक ध्वनि विज्ञान विषयक तथ्यों का उद्घाटन किया गया है। यह ग्रन्थ 6 प्रकरणों में विभक्त है। प्रथम वर्णसमाम्नाय प्रकरण में वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त वर्णों तथा द्वितीय वर्णोच्चारणप्रकरण में उनकी उच्चारण प्रक्रिया का विवेचन किया गया हैं। तृतीय कतिपय वर्णों के स्वरूप नामक प्रकरण में सन्ध्यक्षरादि वर्णों के स्वरूप पर विचार किया गया है। चतुर्थ संयोगप्रकरण में संयुक्त व्यञ्जनों का उच्चारण विषयक विशेषताओं का ध्वनिवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है जो वैदिक ध्वनि विज्ञान के क्षेत्र में ग्रन्थकार के सूक्ष्म तथा गम्भीर चिन्तन को प्रदर्शित करता है। पञ्चम स्वरप्रकरण में उदात्तादि वैदिक स्वरों की उच्चारण-प्रक्रिया तथा षष्ठ सन्धि प्रकरण में सन्धियों के ध्वनिवैज्ञानिक आधार का विवेचन है। वस्तुतः सन्धियाँ ध्वनिवैज्ञानिक आधार पर ही होती है जिनका विवेचन आज तक नहीं हुआ था उसका प्रतिपादन यहाँ किया गया है।

(3) लोकगीतशतकम्– इसमें संस्कृत भाषा में लिखित शताधिक लोकगीत हैं जो सम्प्रति प्रचलित कजली, होली, सोहर आदि ध्वनियों में गेय हैं। संस्कृत भाषा के प्रचार के लिए यह ग्रन्थ अत्युपयोगी है।

इसके अतिरिक्त अभिज्ञानशाकुन्तल, चन्द्रकला नाटिका, अभिषेकनाटक इत्यादि बीसों ग्रन्थों पर भाष्यकार ने हिन्दी व्याख्या लिखा है।

चतुरध्यायिका के प्रकाशित संस्करण– अब तक चतुरध्यायिका के दो संस्करण प्रकाश में आए हैं–

(1) ह्विटनी द्वारा सम्पादित– जर्मनदेशीय विद्वत्प्रवर प्रो० डब्लू० डी० ह्विटनी ने अथर्ववेदप्रातिशाख्य नाम से इसका प्रथम संस्करण सम्पादित किया था जिसका पहली बार प्रकाशन 'अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी' नामक वार्षिक पत्रिका में हुआ था किन्तु 1862 में स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में प्रकाशन हुआ जिसकी द्वितीय आवृत्ति सन् 1962 में चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी से प्रकाशित

हुई। इस संस्करण में ग्रन्थ के सूत्र देवनागरी लिपि में तथा उनके अंग्रेजी में अनुवाद के साथ व्याख्या भी दी गयी है। इस व्याख्या में किसी अज्ञात नाम कर्त्ता वाले चतुरध्यायी नामक भाष्य की प्रत्यालोचना भी की गयी है। इसकी हस्तलिपि ह्विटनी को बर्लिन के रायल पुस्तकालय में मिली थी। उस हस्तलिपि में सूत्रों के साथ-साथ उनका भाष्य भी था। इस संस्करण में सूत्रों की संख्या कम है। सम्भवतः कतिपय सूत्रों को ह्विटनी ने भाष्य समझ कर छोड़ दिया था जिसका निर्देश उन्होंने अपने संस्करण के परिशिष्ट में दिया है।

(2) डॉ0 जमुनापाठक द्वारा सम्पादित– काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के वैदिक साहित्य के प्रातिशाख्यशास्त्र के मूर्धन्य विद्वान् डॉ0 जमुना पाठक ने सन् 1997 में अथर्ववेदीया चतुरध्यायिका नाम से स्वकृत निर्मलभाष्य और शशिकला नामक हिन्दी व्याख्या के साथ वाणी मन्दिर नई सड़क, वाराणसी से सम्पादित किया। इसमें ह्विटनी के संस्करण की अपेक्षा सूत्रों की संख्या अधिक है। इसकी हस्तलिपि डॉ0 पाठक को सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी से प्राप्त हुई थी। इस हस्तलिपि में चतुरध्यायिका के केवल सूत्र ही हैं। अतः उस हस्तलिपि में उपलब्ध सूत्रों के आधार पर डा0 पाठक ने यह संस्करण तैयार किया है। इसका निर्देश उन्होंने अपने संस्करण की भूमिका में किया है।

चतुरध्यायिका तथा शुक्लयजुर्वेदप्रातिशाख्य की तुलना

चतुरध्यायिका तथा शुक्लयजुर्वेद प्रातिशाख्य में साम्य

चतुरध्यायिका अथर्ववेदीय तथा शुक्लयजुर्वेदप्रातिशाख्य, शुक्लयजुर्वेदीय संहिताओं से सम्बन्धित प्रातिशाख्य है। यद्यपि चतुरध्यायिका में विहित विधान अथर्ववेदीय संहिताओं में तथा वाजसनेयिप्रतिशांख्य में विहित विधान शुक्लयजुर्वेदीय संहिताओं में लागू होते है तथापि दोनों प्रातिशाख्यों में विहित विषयवस्तु की दृष्टि से साम्य है, जो निम्नलिखित है–

1. दोनों प्रातिशाख्यों में संक्षिप्तता तथा वर्ण्यविषय की सरलता को समझने के लिए संज्ञाओं तथा परिभाषा सूत्रों का विधान किया गया है।
2. वर्णोच्चारण में स्थान और करण, कतिपय वर्णों के स्वरूप तथा संयोगविषयक उच्चारण वैशिष्ट्य इत्यादि का विवेचन दोनों प्रातिशाख्यों में प्रायः समानरूपेण किया गया है।

3. अक्षर-विभाजन विषयक विधान दोनों प्रातिशाख्यों में किये गये है।

4. प्रायः दोनों प्रातिशाख्य पद-पाठ को प्रकृति मान कर संहिता पाठ बनाने का विधान करते है। इस सन्दर्भ में पद-पाठ के पदों का संहिता पाठ में होने वाले विकार, आगम, लोप, और प्रकृतिभाव सम्बन्धी दोनों प्रातिशाख्यों में विहित है।

5. दोनों प्रातिशाख्यों के अनुसार दोनों में विहित सन्धि-विषयक विधान संहिता में लागू होते है।

6. स्वरों के भेद, उच्चारण प्रकार दो स्वरों के मेल से होने वाली स्वरों की सन्धि, संहिता में पूर्ववर्ती तथा परवर्ती स्वर के प्रभाव से पदों के मूल स्वर में होने वाले परिवर्तन तथा कम्प आदि का विधान दोनों प्रातिशाख्यों में समान रूप से किया गया है।

7. पद-पाठ विषयक विधान दोनों प्रातिशाख्यों में किया गया है।

वैषम्य

1. चतुरध्यायिका में विहित कुछ नियमों के उदाहरण अथर्ववेद संहिता में नहीं मिलते जबकि वाजसनेयिप्रातिशाख्य में सभी नियमों के उदाहरण वाजसनेयिसंहिता में उपलब्ध है।

2. चतुरध्यायिका के कुछ सूत्रों में उद्धृत शब्द अथर्ववेदसंहिता में नहीं मिलते जबकि वाजसनेयिप्रातिशाख्य के सूत्रों में उद्धृत शब्द वाजसनेयिसंहिता में यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते है।

3. चतुरध्यायिका में कुछ ऐसे नियमों का विधान किया गया है जिनके अनुसार अथर्ववेद संहिता में पाठ नहीं मिलता। जबकि वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में सभी ऐसे नियमों का विधान किया गया है जिसका पाठ वाजसनेयिसंहिता में उपलब्ध है।

4. चतुरध्यायिका में विहित कुछ नियमों के अपवाद अथर्ववेद संहिता में मिलते है किन्तु उनका उल्लेख चतुरध्यायिका में नहीं किया गया है। वाजसनेयिप्रातिशाख्य के सभी नियम वाजसनेयिसंहिता में प्राप्त होते है।

5. चतुरध्यायिका में कुछ सूत्रों में बहुलं छन्द का प्रयोग होने से प्रतिपादित विषय सन्दिग्ध हो गया है किन्तु वाजसनेयिप्रातिशाख्य में यह जटिल समस्या नहीं आती है।

6. चतुरध्यायिका में अध्याय की समाप्ति पर 'वृद्धं वृद्धि इति' ऐसा अतीव सुन्दर सूत्र दृष्टिगोचर नहीं होता है जबकि वाजसनेयिप्रातिशाख्य के प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर वृद्धं वृद्धिः इति सूत्र परिलक्षित होता है जिसका अर्थ है इन शास्त्र को पढ़ने वाला व्यक्ति हर तरह से वृद्धि को प्राप्त करे- तथाकथित आशीर्वचन प्राप्त होता है।

चतुरध्यायिका में विषय का प्रतिपादन करने के लिए 'एवमिहेति च विभाषाप्राप्तं सामान्ये' इत्याकारक अतीत सटीक सूत्र का प्रयोग उपलब्ध होता है जिसकां अर्थ है– सामान्य व्याकरण विषय सहित है किन्तु प्रातिशाख्य वेद की शाखा विशेष के लिए विकल्प रहित नियम प्रस्तुत करता है। दूसरी ओर वाजसनेयिप्रातिशाख्य में इस प्रकार के सटीक सूत्रों का सर्वथा अभाव है।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य एवं चतुरध्यायिका के विहित स्वर ये है– अ,आ,आ3, इ,ई,ई3, उ,उ,ऊ3, ऋ,ॠ,ॠ3, ल,लृ,लृ3, ए,ए3, ऐ,ऐ3, ओ,ओ3, औ,औ3।

चतुरध्यायिका में 'समनाक्षर' संज्ञक स्वरों का विधान तो नहीं किया गया है किन्तु समानाक्षर शब्द का प्रयोग हुआ है।

जबकि शुक्लयजुर्वेद प्रातिशाख्य में समनाक्षर के स्थान पर एकाक्षरात्मक अनर्थक 'सिम्' संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि वर्णमाला के आदि में आठ स्वरों की 'सिम्' संज्ञा होती है, वे आठ स्वर है– अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ तथा ॠ ।

शुक्लयजुर्वेद प्रातिशाख्य में वर्णों के देवता, पदों के गोत्र एवं देवता आदि का विवेचन सूत्रों के माध्यम से प्राप्त होता है जबकि चतुरध्यायिका में इन विषयों का सर्वथा अभाव है।

●

प्रथम अध्याय

वेदाध्ययन, संज्ञा तथा ध्वनि-विचार

वेदाध्ययन विचार

वेदों को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए प्राचीन आचार्यों ने बहुत से कार्य किये। उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वेदाविषयक सैद्धान्तिक विवेचन के साथ-साथ व्यावहारिक-पक्ष अर्थात् वेद के पठन-पाठन का भी प्रारम्भ हुआ। क्योंकि वेदविषयक सिद्धान्तों के ज्ञाता भी व्यवहारपक्ष के अभाव में शुद्ध मन्त्रोच्चारण करने में असफल पाये जाते हैं। इसलिए प्राचीनकाल में गुरुमुख द्वारा मन्त्र का अध्ययन करके उन्हें स्मरण करने की परम्परा अधिक प्रचलित थी। आचार्य के मन्त्रोच्चारण के पश्चात् मन्त्रोच्चारण करता हुआ शिष्य उन्हें याद करता था। आचार्य इस बात का सर्वदा ध्यान रखता था कि कहीं शिष्य, अशुद्ध उच्चारण तो नहीं कर रहा है। अशुद्ध उच्चारण करने पर आचार्य अनेक प्रकार से मन्त्रोंच्चारण को शुद्ध कराने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। मन्त्रों के मौखिक पठन-पाठन की परम्परा तभी से चली आ रही है जिसके परिणामस्वरूप चिरकाल के पश्चात् आज भी वेदपाठी वेद-मन्त्रों का उसी प्रकार पाठ करते हैं, जिस प्रकार उस समय होता था।

प्रायः सभी प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में वेदविषयक वर्ण, पदपाठ, क्रमपाठ, सन्धि तथा स्वर इत्यादि के सिद्धान्त पक्ष के साथ-साथ वेद के व्यवहारपक्ष तथा उसके अध्ययन-अध्यापन विषयक विशिष्ट विधान भी प्रतिपादित हुए हैं।

ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मो षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च इत्यादि अनेक विधानों से द्विजाति के लिए वेदाध्ययन विहित किया गया है। स्वाध्यायोऽध्येतव्यः आदि वाक्यों के माध्यम से अपनी वेदशाखा का नित्यप्रति अध्ययन अथवा पाठ भी विहित है। स्वाध्याय अथवा वेदाध्ययन के सम्बन्ध में सम्पूर्ण सूत्र-ग्रन्थों में आवश्यक निर्देश दिये गये हैं।

चतुरध्यायिका के चतुर्थ अध्याय के कतिपय सूत्रों में वेदाध्ययन का विधान किया गया है। वा0प्रा0 के प्रथम एवम् अष्टम अध्याय में कतिपय मत उपलब्ध होते है, जो वेदाध्ययन से होने वाले अपूर्व फलों को दर्शाते हैं।

सम्प्रति, अ0च0 एवं वा0प्रा0 के आधार पर वेदाध्ययन का विधान प्रस्तुत किया जा रहा है–

अ0च0 4.4.1,2 के अनुसार 'मृत्यु के पश्चात् प्रकाश की कामना करने वालों के लिए वेदाध्ययन (ही) धर्म है।[1] इसका अभिप्राय यह है कि यदि किसी को मोक्ष की कामना हो तो वह वेदों का अनुशीलन विधिवत करे। अ0च0 4.4.3,4 के अनुसार यह बतलाया है कि यज्ञ का अनुष्ठान वेदों के बिना नहीं हो सकता।[2] अ0च0 4.4.5-6 के अनुसार यज्ञ में लोक (प्राणिजन) प्रतिष्ठित है, शब्दान्तर में अ0च0 में कहा है कि पांच प्रकार के उन, लोकों में प्रतिष्ठित है।[3] इसका अभिप्राय यह है कि वेदाध्यन एवं यज्ञ का अनुष्ठान विधिवत करने मात्र से ही सभी मनों कामनाओं की पूर्ति होती है। अत एव सभी को वेदों का अध्ययन अध्यापन करना नितान्त गौरव का विषय समझना चाहिए।

वा0प्रा0 8/27 के अनुसार अध्येता को वेदाध्ययन पवित्र एवं शुद्ध होकर करना चाहिए।[4] इसका अभिप्राय यह है कि अध्येता को हाथ-पैर धोकर बाह्य रूप से शुद्ध होकर एवम् आचमन, प्राणायाम इत्यादि द्वारा आन्तरिक रूप से शुद्ध होकर वेदाध्ययन करना चाहिए। वेदाध्ययन, समस्त इन्द्रियों को नियन्त्रित कर एकाग्रचित्त होकर सावधानीपूर्वक पवित्रता के साथ करना चाहिए।[5] वा0प्रा0 8/28 के अनुसार वेदाध्ययन जिस स्थान

1क. वेदाध्ययनं धर्मः, अ.च., 4.4.1.

1ख. प्रेत्य ज्योतिष्टं कामयमानस्य, अ.च., 4.4.2.

2क. याज्ञिकैर्यथासमाम्नातम्, अ.च. 4.4.3.

2ख. यज्ञततिर्न पृथग्वेदेभ्यः, अ.च. 4.4.4.

3क. यज्ञे पुनर्लोकाः प्रतिष्ठिताः, अ.च. 4.4.5.

3ख. पञ्चजना लोकेषु, अ.च. 4.4.6.

4. शुचिना, वा.प्रा., 8/27.

5. प्रयतः, वा. प्रा0, 1/20.

पर किया जाय वह स्थान भी साफ-सूथरा होना चाहिए।[1]

वा0प्रा0 1/16 के अनुसार स्वाध्याय के आरम्भ में सर्वप्रथम ओङ्कार (प्रणव) का उच्चारण करना चाहिए।[2] भाष्यकार उवट ओङ्कार का महत्त्व समझाते हुए कहते है कि ओङ्कार तथा अथ ये दोनों शब्द सर्वप्रथम सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा के कण्ठ से उत्पन्न हुए है। अत एव दोनों ही महान् और मङ्गलसूचक है। जबकि ओङ्कार तथा अथ ये दोनों ही समान होते हैं एवं समान फलप्रदाता है। परन्तु समान कोटिक होने पर भी उनके प्रयोग में भिन्नता है। ओङ्कार का उच्चारण वेद के अध्ययन के प्रारम्भ में करना होता है और अथ पद का उच्चारण भाष्यग्रन्थों के अध्ययनारम्भ में किया जाता है।

वेदाध्येता को सुखद आसन पर बैठकर वेदाध्ययन करना चाहिए।[3] उचित समय अर्थात् हेमन्त ऋतु की रात्रि के चौथे प्रहर में अध्ययन करना चाहिए।[4] शूद्र और पतित मनुष्य जिस प्रकार न सुने उस प्रकार स्वाध्याय करना चाहिए।[5] वेदाध्येता को अध्ययनावस्था में एक योजन (चार कोस=12 कि0मी0) से अधिक पैदल नहीं चलना चाहिए।[6] अध्येता को मधुर तथा स्निग्ध भोजन करना चाहिए।[7]

इस प्रकार वेदाध्ययन के नियम बतलाने के बाद वेदाध्ययन का फल बतलाते हुए वा0प्रा0 में कहा गया है कि वेदों का अध्ययन तथा

1क. शुचौ देशे, वा. प्रा., 8/28.
1ख. शुचौ, वा. प्रा., 9/21.
2. ओङ्कारः स्वाध्यायादौ, वा. प्रा., 1/16.
3क. ओङ्काराथकारौ, वा. प्रा., 1/17.
3ख. ओङ्कार वेदेषु, वा. प्रा., 1/18.
3ग. अथकारं भाष्येषु, वा. प्रा., 1/19.
3घ. इष्टम्, वा. प्रा., 1/22.
4. ऋतुं प्राप्य, वा. प्रा., 1/23.
5. शूद्रपतितयोरसश्रावं स्वाध्यायोऽध्येतव्यः, वा.प्रा., 8/29.
6. योजनान्न परम्, वा. प्रा. 1/24.
7. भोजनं मधुरं स्निग्धम्, वा. प्रा., 1/25.

उसका अर्थज्ञान मोक्षदायक होता है।[1] स्वर्गदायक होता है।[2] यश का साधक होता है।[3] एवं आयु की वृद्धि करता है।[4] इतना ही नहीं अपितु वेदाध्ययन से अर्थात् वेदों के अध्यापन से, वेदों के श्रवण से तथा वैदिक वर्ण, अक्षर, पद इत्यादि के ज्ञान से धर्म प्राप्त होता है।[5]

चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य दोनों के 'वेदाध्ययन' का अवलोकन करने से यह स्पष्ट है कि चतुरध्यायिका की अपेक्षा वाजसनेयि प्रातिशाख्य में 'वेदाध्ययन' पर प्रकाश अधिक डाला गया है।

चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य दोनों में पृथक्-पृथक् भूतों के माध्यम से 'मोक्ष की प्राप्ति होती है', ऐसा बतलाया गया है। इस तथ्य का सम्यक् रूप से प्रतिपादन करने के कारण आज भी, वेदाध्ययन, अध्येताओं के लिए आकर्षण का विषय बना हुआ है।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य में अत्यन्त आकर्षक एवं सुलभ विधि से, ओम्, एवम् 'अथ' का समान फलदायक होना तथा उनके 'प्रयोग-स्थल' के विषय का प्रतिपादन अति रोचक सूत्रों के माध्यम से किया गया है, जो इस प्रकार है–

1. वेदों के अध्ययन के आरम्भ में 'ॐ' का उच्चारण करना चाहिए।
2. वेद-व्यतिरिक्त ग्रन्थों (भाष्य-ग्रन्थों) के अध्ययन के आरम्भ में 'अथ' का उच्चारण करना चाहिए।

(आ) संज्ञा-विचार

पारिभाषिक संज्ञाए

विपुल अर्थ को प्रकट करने के लिए सूत्रकार द्वारा पारिभाषिक शब्द

---

1. ज्ञाने, पौरुष्यम्, वा. प्रा., 8/30-31.
2. स्वर्ग्यम्, वा. प्रा., 8/33.
3. यशस्यम्, वा. प्रा., 8/33.
4. आयुष्यम्, वा. प्रा., 8/34.
5. अथापि भवति, वेदस्याध्ययनाद्धर्मः सम्प्रदानात्तथा श्रुतेः।
   वर्णशोऽक्षरशो ज्ञानाद्धि भवति पदशोऽपि च।। वा.प्रा., 8/36-37.

का विधान तस्तत् ग्रन्थ में केवल एक स्थल पर कर दिया जाता है और ग्रन्थ में पुनः जहां उस अर्थ को प्रकट करना अभीष्ट रहता है, वहाँ-वहाँ उस लघुकाय परिभाषिक शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है। पारिभाषिक शब्द जिस अर्थ-विशेष का द्योतक होता है, उस सम्पूर्ण अर्थ-विशेष का ज्ञान पारिभाषिक शब्द के कथनमात्र से ही हो जाता है।

परिभाषा-सूत्र

पारिभाषिक संज्ञाओं की भाँति परिभाषा-सूखों का भी विधान सूत्रकार के द्वारा किया जाता है। इन सूत्रों के माध्यम से सूत्रकार सूत्र-ग्रन्थों के विधान तथा उनके द्वारा होने वाले कार्यों के सम्बन्ध में एक प्रणाली को निश्चित करते हैं, जिसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण ग्रन्थ के विधानों एवं सूत्रगत अर्थ को समझने व निर्णय करने में काठिन्य का अनुभव नहीं होता है।

इस परिभाषा सूत्ररूपी 'कुञ्जी' को हाथ में लेकर ही अध्येता तथा आचार्य सूत्रों के रहस्य को अवगत करने और कराने में समर्थ हो सकता है।

दोनों ग्रन्थों में अभिहित पारिभाषिक संज्ञाए

प्रस्तुत प्रबन्ध के इस प्रकरण में वाजसनेयिप्रातिशाख्य में विहित संज्ञाओं के साथ चतुराध्यायिका में विहित संज्ञाओं की तुलना प्रस्तुत की जा रही है।

उपधा

'उपधा' शब्द 'उप्' उपसर्गपूर्वक 'धा' धातु से निष्पन्न होता है। उपधा का शाब्दिक अर्थ है– समीप में रखा हुआ। चतुराध्यायिका में 'उपधा' संज्ञा का विधान करते हुए बतलाया गया है कि अन्त्य वर्ण से पूर्व वाला वर्ण उपधा संज्ञक होता है।[1] उदाहरणार्थ 'महान् इन्द्रः' प्रस्तुत उदाहरण में अन्त्य वर्ण नकार है इससे पूर्व में आकार है अतः इस आकार की उपधा संज्ञा हुई। वाजसनेयिप्रातिशाख्य में उपधा संज्ञा का विधान करते हुए बतलाया गया है कि अन्त्य वर्ण से पूर्व वाला वर्ण उपधा-संज्ञक होता है।[2]

1. वर्णदन्त्यात्पूर्व उपधा, अ.च., 1.4.1.
2. अन्त्याद्वर्णात्पूर्व उपधा, वा. प्रा., 1/35.

अन्तःस्था वर्ण

वाजसनेयिप्रातिशाख्य के अनुसार य्, र्, ल्, व् ये चार वर्ग अन्तःस्था है। चतुराध्यायिका में अन्तःस्था संज्ञा का प्रयोग तो हुआ है किन्तु विधान नहीं।

ह्रस्व

चतुराध्यायिका के अनुसार 'ह्रस्व एकमात्रिक होता है।'[1] वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में ह्रस्व संज्ञा का विधान करते हुए प्रतिपादन किया गया है कि अकार के परिमाण (उच्चारण काल) वाला स्वर ह्रस्व संज्ञक होता है।[2] अर्थात् जितने समय में अकार का उच्चारण होता है उतने समय में उच्चारित होने वाला वर्ण ह्रस्व संज्ञक होता है। उदाहरणार्थ– अ, इ, उ, ऋ, लृ।

दीर्घ

अ0च0 के तथा वा0प्रा0 के अनुसार दो मात्रा काल वाला स्वर दीर्घ कहलाता है।[3]

प्लुत

दोनों प्रातिशाख्यों के अनुसार ह्रस्व में तिगुने उच्चारण काल वाला (त्रिमात्रिक) स्वर 'प्लुत' संज्ञक होता है।[4] उदाहरणार्थ आ3, ई3, तथा उ।3।

उदात्त

दोनों प्रातिशाख्यों में उदात्त संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि उच्च ध्वनि से उच्चारित होने वाला स्वर 'उदात्त' संज्ञक होता है।[5]

---

1. अथान्तस्थाः, यिति, रिति, लिति, विति, वा. प्रा., 8/14-15.
2. एकमात्रो ह्रस्वः, अ.च., 1.2.18, अमात्रस्वरो ह्रस्वः, वा. प्रा., 1/55.
3. द्विमात्रो दीर्घः (अ.च. 1.2.20).

4क. प्लुतस्त्रिः, वा.प्रा., 1/58.

4ख. त्रिमात्रः प्लुतः, अ.च., 1.2.21.

5क. समानयमेऽक्षरमुच्चैरुदात्तम्, अ.च., 1.1.14.

5ख. उच्चैरुदात्तः, वा. प्रा., 1/108.

अनुदात्त– दोनो प्रातिशाख्यों के अनुसार नीची ध्वनि से उच्चारित स्वर अनुदात्त संज्ञक होता है।[1]

स्वरित

दोनों ही प्रातिशाख्यों में स्वरित का विधान किया गया है। वाजसनेयि-प्रातिशाख्य के अनुसार 'इन दोनों (उदात्त, अनुदात्त) के गुण से युक्त स्वर, स्वरित संज्ञक होता है।[2] यथा- ऊर्ज्जे त्वा (वा.सं. 1/1)। चतुराध्यायिका के अनुसार आक्षेप अर्थात् उच्च ध्वनि से निम्न ध्वनि की ओर जाने से निष्पन्न स्वर स्वरित संज्ञक होता है।

अनुनासिक– इस संज्ञा का विधान दोनों प्रातिशाख्यों में किया गया है। दोनों प्रातिशाख्यों के अनुसार मुख तथा नासिका से उच्चारित होने वाले वर्ग अनुनासिक संज्ञक होते है। इसी सन्दर्भ में दोनों प्रातिशाख्यों में यह भी विधान किया गया है कि वर्गों के पञ्चम वर्ग (ङ्,ञ्,ण्,न्,म्) अनुनासिक संज्ञक होते है।[3]

अक्षर– अक्षर संज्ञा का विधान दोनों प्रातिशाख्यों में किया गया है। वाजसनेयिप्रातिशाख्य के अनुसार अक्षर ये है- (1) स्वर वर्ण को अक्षर कहते है।[4] यथ- अ, आ इत्यादि। (2) पूर्ववर्ती व्यञ्जन के साथ भी स्वर वर्ण अक्षर कहलाते है। यथा- मो। यहां पूर्ववर्ती व्यञ्जन मकार के साथ ओकार अक्षर है।

आम्रेडित– इस संज्ञा का विधान दोनों प्रातिशाख्यों में किया गया

1क. नीचैरनुदात्तः, वा.प्रा., 1/109.

1ख. नीचैरनुदात्तम्, अ.च., 1.1.15.

2क. आक्षिप्तं स्वरितम्, अ.च., 1.1.16.

2ख. उभयवान्तस्वरितः, वा.प्रा., 1/110.

3क. मुखनासिका करणोऽनुनासिकः, वा.प्रा., 1/75.

3ख. अनुनासिकाश्चोत्तमाः, वा.प्रा., 1/89.

3ग. उत्तमा अनुनासिकाः, अ.च., 1.1.11.

4क. स्वरोऽक्षरम्, वा.प्रा., 1/99.

4ख. स्वरोऽक्षरम्, अ.च., 1.4.2.

है। दोनों प्रातिशाख्यों के अनुसार दो बार कहा गया पद आम्रेडित कहलाता है।'[1] यथा– यज्ञा-यज्ञा वो अग्नये। यहाँ यज्ञा पद दो बार आया है। अतः यह 'आम्रेडित' पद है।

लोप– दोनों प्रातिशाख्यों में यह विधान किया गया है कि 'वर्णों के अदर्शन को लोप कहते है।'[2]

नति– दोनों ही प्रातिशाख्यों में 'नति' संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि दन्त्य वर्ण का मूर्धन्य वर्ण होना नति कहलाता है।[3] वाजसनेयि प्रातिशाख्य में नति के लिए ही विनाम शब्द का प्रयोग किया गया है। यथा– परि। सिञ्चति (प.पा.) परिषिञ्चति (वा.सं. 19/2) यहाँ पर दन्त्य वर्ण (सकार) का मूर्धन्य भाव (षकार) रूप नति संज्ञा हुई है।

अपृक्त– दोनो प्रातिशाख्यों में यह विधान किया गया है कि एक वर्ण वाला पद 'अपृक्त' होता है।[4]

प्रगृह्य– इस संज्ञा का विधान दोनों प्रातिशाख्यों में किया गया है। वाजसनेयिप्रातिशाख्य के प्रथम अध्याय के सात सूत्रों (1/92-98) में प्रगृह्य संज्ञक स्वरों का विधान किया गया है जबकि चतुराध्यायिका के 1.3.11-20 में प्रगृह्य संज्ञा का विधान किया गया है। दोनों प्रातिशाख्यों के अनुसार 'परवर्ती स्वर वर्ण के साथ विकार प्राप्त होने पर भी विहार को प्राप्त न करने वाले स्वर प्रगृह्य संज्ञक होते है।'[5]

सन्ध्यक्षर– दोनों ही प्रातिशाख्यों में सन्ध्यक्षर संज्ञा का विधान है। चतुराध्यायिका 1.1.40 के अनुसार 'सन्ध्यक्षर (ए,ओ,ऐ,औ) दो स्वरों की सन्धि से निष्पन्न होता है और इसका उच्चारण एक वर्ण के समान

---

1. द्विरुक्तमाम्रेडितं पदम्, वा.प्रा., 1/146.
2. वर्णस्यादर्शनं लोपः, वा.प्रा., 1/141.
3. दन्त्यस्य मूर्धन्यापत्ति नतिः, वा.प्रा., 1/42.
4. एक वर्णः पदमपृक्तम्, वा.प्रा., 1/151.

5क. प्रगृह्यसंज्ञायाः प्रयोजनम्, 'प्रगृह्यं स्वरे', वा.प्रा., 1/192.

5ख. प्रगृह्याश्च प्रकृत्या, अ.च., 3.2.10.

होता है।' वाजसनेयिप्रातिशाख्य 1/45 के अनुसार 'परवर्ती स्वर सन्ध्यक्षर कहलाते है।' उदाहरणार्थ– ए,ऐ,ओ,औ। भाष्यकार उवट के मतानुसार सन्ध्यक्षर संज्ञा के अन्तर्गत चार द्विमात्रिक वर्ण (ए,ऐ,ओ, औ) ही गृहीत होते हैं। प्रयोजनाभाववश इनके प्लुत रूपों का ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि किसी न किसी प्रयोजन के लिए ही संज्ञा एवं परिभाषा बनायी जाती है। अतः द्विमासिक ए,ऐ,ओ,औ वर्ण ही गृहीत होते हैं। वर्ण-समाम्नाय के अन्तर्गत समस्त स्वरों एवम् उनके रूपों का कथन सर्वथा युक्तिसंगत है; क्योंकि वहां इतने वर्ण होते है यह बतलाना ही लक्ष्य होता है।[1]

(इ) वर्णसमाम्नाय-विचार

वर्णों की क्रमशः पाठपद्धति को लोक में वर्णमाला कहते है। वाजसनेयिप्रातिशाख्य में वर्णमाला को वर्णसमाम्नाय शब्द से अलंकृत किया गया है। भाष्यकार उवट का कथन है कि 'वर्णों का जिस समाम्नाय में पाठ होता है उसे वर्णसमाम्नाय शब्द से अभिहित किया जाता है।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रातिशाख्य में वर्णसमाम्नाय अर्थात् वर्णमाला का पूरा उपदेश नहीं मिलता है।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य एवं चतुराध्यायिका में स्वीकृत वर्ण-समाम्नाय–

वाजसनेयिप्रातिशाख्य एवं चतुराध्यायिका दोनों के वर्णसमाम्नाय में साम्यत्व है।

चतुरध्यायिका में वर्णसमाम्नाय का पाठ नहीं किया गया है। चतुरध्यायिका के व्याख्याकार ह्विटनी की प्रथम अध्याय के कतिपय सूत्रों 1.1.19-38 की व्याख्या के द्वारा वर्ण-समाम्नाय का ज्ञान प्राप्त होता है। वाजसनेयिप्रातिशाख्य के आठवें अध्याय में प्रातिशाख्यकार कात्यायन ने स्वयं वर्णसमाम्नाय का पूर्णरूपेण कथन किया है।

चतुराध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य में वर्णसमाम्नाय के अन्तर्गत निहित वर्ण इस प्रकार है– अ,आ,आ3, इ,इ,ई3, उ,ऊ,ऊ3,

---

1क. सन्ध्यक्षराणि संस्पृष्टवर्णान्येकवर्णवद्वृत्तिः, अ.च., 1.1.40.

1ख. सन्ध्यक्षरं परम्, वा.प्रा., 1/45.

ऋ,ॠ,ॠ3, लृ,लॄ,लॄ3, ए,ए3, ऐ,ऐ3, ओ,ओ3, औ,औ3, ये स्वर वर्ण हैं।

क,ख,ग,घ,ङ, च,छ,ज,झ,ञ, ट,ठ,ड,ढ,ण, त,थ,द,ध,न, प,फ,ब,भ,म ये स्पर्श वर्ण हैं।

य,र,ल,व- ये अन्तःस्थावर्ण हैं।

श,ष,स,ह - ये ऊष्म वर्ण हैं।

ᳵ क जिह्वामूलीय है; ᳶ प उपध्मानीय है; अं अनुस्वार है; अः विसर्जनीय है; हुं नासिक्य है; कुँ, खुँ, गुँ, घुँ- यम है। वाजसनेयिप्रातिशाख्य 8/45 में ळ तथा ळ्ह का भी संकेत मिलता है जिसका चतुराध्यायिका में सर्वथा अभाव है।

वर्णराशि का विभाजन

दोनो प्रातिशाख्यों में सम्पूर्ण वर्णराशि को दो भागों में विभक्त किया गया है- 1. स्वर वर्ण तथा, 2. व्यञ्जन वर्ण।

स्वर वर्ण- वर्ण विशेष का बोध कराने वाला स्वर शब्द 'स्वृ' धातु से अच् प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है। इसका अर्थ है- ध्वनि करना। तैत्तिरीयप्रातिशाख्य के भाष्य में 'स्वर' शब्द का निर्वचन करते हुए कहा गया है कि 'जो स्वयं प्रमाणित (उच्चारित) होते है, किसी अन्य के द्वारा नहीं, वे 'स्वर' कहे जाते है।

स्वर वर्णों का विभाजन

मूल स्वर- चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य के अनुसार अ,आ,आ3, इ,ई,ई3, उ,ऊ,उ3, ऋ,ॠ,ॠ3, लृ,लॄ,लॄ3- ये मूल स्वर है।[1] मूल स्वर का तात्पर्य उन स्वर वर्णों से है, जो दो स्वर वर्णों की सन्धि से उत्पन्न नहीं होते तथा जिनका उच्चारण सर्वांश में समानरूपेण होता है।

---

1. तत्र स्वराः प्रथमम्, अ इति आ इति आ3 इति इ इति ई इति ई3 इति उ इति ऊ इति ऊ3 इति ऋ इति ॠ इति ॠ3 इति लृ इति लॄ इति लॄ3 इति, वा.प्रा., 8/2-3.

सन्ध्यक्षर– वाजसनेयिप्रातिशाख्य एवं चतुरध्यायिका दोनों के अनुसार ही सन्ध्यक्षर का अर्थ है– दो स्वर वर्णों की सन्धि से निष्पन्न हुआ स्वर वर्ण। इनकी विशेषता यह है कि इन स्वर वर्णों का उच्चारण सर्वांश में समान नहीं होता। इनका उच्चारण दो स्थानों से होता है। वाजसनेयिप्रातिशाख्य के अनुसार ए,ए3, ऐ,ऐ3, ओ,ओ3, औ तथा औ3– ये आठ स्वर वर्ण सन्ध्यक्षर है।[1] चतुरध्यायिका के अनुसार ए,ऐ,ओ,औ सन्ध्यक्षर है। यह दो स्वरों की सन्धि से निष्पन्न होते हैं और उनका उच्चारण एक वर्ण के समान होता है। किन्तु उच्चारण की दृष्टि से ऐकार और औकार एक वर्ण के समान उच्चरित नहीं होते।[2]

चतुराध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य के अनुसार स्वरों का विभाजन–

स्वर

मूल स्वर	सन्ध्यक्षर स्वर
अ,आ,आ3	ए,ए3,ऐ,ऐ3
इ,ई,ई3	
उ,ऊ,ऊ3	ओ,ओ3, औ, औ3,
ऋ, ॠ ,ॠ3	
ऌ, ॡ , ॡ3	

व्यञ्जन वर्ण– व्यञ्जन शब्द, प्रकट होना, व्यञ्जित होना अथवा प्रकाशित होना, अर्थ वाली अञ्ज धातु से वि उपसर्ग पूर्वक ल्युट् प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है। तैत्तरीयप्रातिशाख्य 1/6 पर वै0भा0 में व्यञ्जन शब्द का निर्वचन करते हुए कहा गया है कि ये वर्ण दूसरे स्वर की सहायता से अभिव्यक्त होते है; ण लिये व्यञ्जन कहे जाते है। वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में बयालिस व्यञ्जनों का उपदेश किया गया है। इन व्यञ्जन

1. अथ सन्ध्यक्षराणि, एइति, ए3 इति, ऐ इति, ऐ3 इति, ओ इति औ3 इति, औ इति औ3 इति, वा. प्रा. 8/4.
2. संध्यक्षराणि संस्पृष्टसर्णान्येकवर्णवद्वृत्तिः, नैकारौकारयोः स्थानविधौ अ.च., 1.1.40-41.

वर्णों का विभाजन इस प्रकार है–

दोनों प्रातिशाख्यों के अनुसार क से म तक व्यञ्जन वर्ण स्पर्श में परिगणित हुए है।[1] अर्थात् क्,ख्,ग्,घ्,ङ्। च्,छ्,ज्,झ्,ञ्,। ट्,ठ्,ड्,ढ्,ण्, त्,थ्,द्,ध्,न्। प्,फ्,ब्,भ्,म्, ये स्पर्श हैं।

अन्तस्था– चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य के अनुसार अन्तस्था वर्ण य्,र्,ल्,व् है।[2]

ऊष्म वर्ण– वाजसनेयिप्रातिशाख्य एवं चतुरध्यायिका दोनों के अनुसार श्,ष्,स्,ह् ये चार वर्ण उष्म हैं।[3]

अयोगवाह– दोनों प्रातिशाख्यों वाजसनेयिप्रातिशाख्य एवं चतुरध्यायिका के अनुसार अयोगवाह इस प्रकार है– ᳵ क (जिह्वामूलीय) ᳵ प (उपध्मानीय) अं (अनुस्वार) अः (विसर्जनीय), हुँ (नासिक्य) और चार यम (कुं,खुं,गुं, घुं)। अयोगवाह शब्द की व्याख्या करते हुए भाष्यकार उवट ने कहा है कि अकारादि वर्णसमाम्नाय के साथ मिलकर अपना निर्वाह करते है, आत्मलाभ प्राप्त करते है, (उच्चारित होते है) इसलिए ये 'अयोगवाह' कहलाते है।[4]

यम– सूत्रकार कात्यायन ने अयोगवाह व्यञ्जन के अन्तर्गत यम वर्णों का कथन किया है। कुँ,खुँ,गुँ,घुँ– ये चार वर्ण यम है।[5]

---

1. किति खिति गिति घिति ङिति कवर्गः, चिति छिति जिति झिति ञिति चवर्गः, टिति ठिति डिति ढिति णिति टवर्गः, तिति थिति दिति धिति निति तवर्गः, पिति फिति बिति भिति मिति पवर्गः, वा.प्रा., 8/8/12.
2. अथान्तस्थाः। यिति रिति लिति विति, वा.प्रा., 8/14-15.
3. अथोष्माणः, शिति षिति सिति हिति, वा. प्रा., 8/17.
4. अकारादिना वर्णसमाम्नायेन सहिताः सन्त एते वहन्त्यात्मलाभं प्राप्नुवन्त्य-योगवाहाः, वा.प्रा., 8/18 पर उवट भाष्य.
5. कुँ खुँ गुँ घुँ इति यमाः, वा.प्रा., 8/24.

व्यञ्जन

स्पर्श (25)	अन्तस्था (4)	ऊष्म (4)	अयोगवाह (9)
क,ख,ग,घ,ङ	य	श	ᳵ क (जिह्वामुलीय)
च,छ,ज,झ,ञ	र	ष	ᳶ प (उपध्मानीय)
ट,ठ,ड,ढ,ण	ल	स	अं (अनुस्वार)
त,थ,द,ध,न	व	ह	अः (विसर्जनीय)
प,फ,ब,भ,म			हुँ (नासिक्य)
			कुं,खुं,गुं,घुं (यम)

चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य में वर्णसमाम्नाय की विशेषताएँ

चतुरध्यायिका के व्याख्याकार ह्विटनी द्वारा कृत प्रथम अध्याय के सूत्रों (1.1.19-38) की व्याख्या के आधार पर प्रस्तुत वर्गसमाम्नाय तथा वाजसनेयिप्रातिशाख्य के सूत्रकार एवं भाष्यकार द्वारा जो वर्णमाला प्रस्तुत की गयी है उसके वर्णों का क्रम लौकिक संस्कृत तथा अन्य प्रातिशाख्यों में प्रयुक्त वर्णों के क्रम से अधिक साम्य रखता है फिर भी चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य की अपनी विशेषताएँ है जो अन्य वर्णमाला में उपलब्ध नहीं है। मुख्य विशेषताए ये हैं–

1. वाजसनेयिप्रातिशाख्य एवं चतुरध्यायिका में स्वर वर्णों की संख्या 23 है, जो अन्य प्रातिशाख्यों से सर्वाधिक है। वाजसनेयिप्रातिशाख्य एवं चतुरध्यायिका में स्वरों के समस्त रूपों ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत का ग्रहण किया गया है।

2. शुक्लयजुर्वेद की उपलब्ध शाखाओं में आने वाली समस्त वर्णराशि का ग्रहण वाजसनेयिप्रातिशाख्य की वर्णमाला में हुआ है।

3. दोनों ही प्रातिशाख्यों में जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, विसर्जनीय, नासिक्य और यम वर्णों को 'अयोगवाह' इस अन्वर्थ संज्ञा के अन्तर्गत रखा है।

4. वाजसनेयिप्रातिशाख्य के सूत्रकार ने वर्णसमाम्नाय में कथित वर्णों के अभिमानी देवताओं का भी उल्लेख किया है जबकि इस प्रकार का विधान चतुरध्यायिका में उपलब्ध नहीं है।

(ई) वर्णोच्चारण-विचार

वैदिक शुद्ध उच्चारण की परम्परा

भारतवर्ष में वैदिक वर्णों के उच्चारण की एक विशिष्ट पद्धति है, इस पद्धति को ही सम्प्रदाय या परम्परागत अध्ययन कहते हैं। वेदों में अध्ययन शब्द का जहाँ प्रयोग है, उसको स्पष्ट करते हुए शिक्षा ग्रन्थ में यह बतलाया गया है कि गुरु के मुख से उच्चारित वेद शब्दराशि को उसी रीति (वर्ण तथा उदात्तादि स्वर के अनुकरण) से उच्चारण करने को अध्ययन कहते है।[1] इस अध्ययन-परम्परा में श्रवण तथा तन्मूलक तदनुसारी उच्चारण की प्रमुखता रहती है। अत एव वेद के लिए श्रुति शब्द भी अत्यन्त विख्यात है। भारत में प्राचीनकाल में एवम् आज भी वैदिक मूलाक्षरों के उच्चारण की परम्परा में, गुरुमुख-उच्चारण द्वारा शिष्य का तदनुकूल उच्चारण अध्ययन प्रसिद्ध है।[2] गुरु-शिष्य की क्षमता के अनुसार मन्त्र अथवा मन्त्रांश का उच्चारण कराते थे, इसके पश्चात् गुरु के उच्चारण का सम्यक् अनुकरण करता हुआ शिष्य उस (मन्त्र या मन्त्रांश) का उच्चारण करता था। गुरुजन सर्वदा ध्यान रखते थे कि शिष्य सम्प्रदाय के अनुसार शुद्ध उच्चारण कर रहा है या नहीं। अशुद्ध उच्चारण करने पर गुरु-शिष्य को ताड़ना भी देते थे।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने बतलाया है कि असुर लोग 'हे अरयोऽरयः के स्थान पर 'हेलयो हेलयः' यह अशुद्ध उच्चारण करके पराजित हो गये। इस दृष्टान्त से यह शिक्षा मिलती है कि अशुद्ध उच्चारण कदापि नहीं करना चाहिए।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय वाङ्मय में शुद्ध उच्चारण की बहुत अधिक महत्ता है। यही कारण है कि समस्त प्रातिशाख्य एवं शिक्षाग्रन्थों में वर्णों के उच्चारण सम्बन्धी नियमों का उल्लेख किया गया है। अन्य प्रातिशाख्यों के समान चतुरध्यायिका में वर्ण-समाम्नाय

---

1. गुरुमुखोच्चारणामुच्चारणमध्ययनम्।
   गुरुवतं श्रुणुयान्मन्त्रं तूष्णीं पश्चादनुच्चरेत्।। सं.प्र.शि., 18.
2. वेदस्याध्ययनं सर्वगुर्वध्ययनपूर्वकम्।
   वेदाध्ययनसमान्यादधुनाध्ययनं।। मी.न्या.प्र0.

का पाठ नहीं किया गया है। चतुरध्यायिका के व्याख्याकार ह्विटनी के अनुसार प्रथम अध्याय के सूत्रों (1/19-38) की व्याख्या के आधार पर यहां वर्णों को प्रस्तुत किया गया है–

उच्चारणावयवों का संक्षिप्त परिचय

वर्णों की उच्चारण-विधि एवम् उनसे सम्बन्धित वाजसनेयिप्रातिशाख्य और चतुरध्यायिका के सूत्रों का तुलनात्मक विवेचन करने के पूर्व वर्णोच्चारण में प्रयोग किये जाने वाले शरीरावयवों को क्रिया का ज्ञान करना नितान्त आवश्यक है। फलतः उच्चारण में प्रयुक्त होने वाले शरीरावयवों का संक्षेप में विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

1. फेफड़े

श्वास- प्रश्वास की क्रिया मानव शरीर में निरन्तर चलती रहती है। जब वायु श्वास क्रिया में नासिका के माध्यम से फेफड़े में पहुचती है तो फेफड़े फूल जाते हैं। पुनः श्वास वायु नासिका-विवर से होकर बाहर निकलती है, इस अशुद्ध वायु को जब नासिका के साथ ही मुख से भी निकाला जाता है, तब ध्वनि की निष्पत्ति होती है। अतः ध्वनि की निष्पत्ति में फेफड़ों का साक्षात् उपयोग नहीं होता, किन्तु वही मूलस्थ है जहां से निकलने वाली वायु का प्रयोग ध्वनि की निष्पत्ति के लिए होता है। इसको प्रातिशाख्य में उरस् शब्द से अभिहित किया गया है।

2. श्वासनलिका एवं स्वरयन्त्र

वायु सर्वप्रथम नासिकाविवर के माध्यम से श्वास-नलिका में जाती है तथा श्वासनलिका से होकर फेफड़ों में पहुचती है। तदनन्तर इन्हीं भागों से प्रत्यावर्तित होती है। गले में वर्तमान श्वासनलिका के ऊपरी भाग में स्वर यन्त्र स्थित है, जिसमें पतली झिल्ली के बने दो लचीले पर्दे होते हैं। जिनको स्वरतन्त्री कहा जाता है तथा इन्हीं स्वरतन्त्रियों के मध्य वर्तमान खुले हुए भाग को स्वर-यन्त्र का मुख कहा जाता है। इन्हीं स्वरतन्त्रियों के एक दूसरे के पास आने अथवा दूर हटने से अनेक प्रकार की ध्वनियों का निष्पादन होता है।

3. मुख

मुख का ध्वनियों की निष्पत्ति में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके अन्तर्गत जिह्वा, तालु, ओष्ठ, दन्त, आदि उच्चारणावयव आते हैं।

4. जिह्वा

जिह्वा सर्वाधिक कोमल तथा महत्त्वपूर्ण अवयव होती है। यह विविध प्रकार के रूप धारण करके निकलती हुई वायु को अनेक प्रकार से विभाजित करती है, जिसके फलस्वरूप विभिन्न ध्वनियों की निष्पत्ति होती है। उच्चारण की विविधता के अनुसार जिह्वा को मुख्य पाँच भागों में विभक्त कर सकते हैं– 1. मूल, 2. पश्च, 3. मध्य, 4. अग्र, 5. नोक आदि।

5. तालु

मुख-विवर एवं नासिका-विवर के मध्य स्थित अर्धगोलाकार छत ही तालु कहलाता है। यह प्रमुख दो भागों में विभक्त किया गया है–

(1) कठोर तालु– यह बाहर की ओर होता है।

(2) कोमल तालु– यह अन्दर की ओर होता है। कठोर तालु को फिर तीन भागों में विभक्त किया गया है–

क. दांतों के पीछे उभरा हुआ अंश जिसको वर्त्स्व (मसूड़ा) कहते हैं।

ख. इसे सामान्य तालु के नाम से कहा जाता है।

ग. इसको मूर्धा कहते है। यह मुख के छत का ऊपरी भाग है। कोमल तालु के अन्तिम भाग को कौवा या अलिजिह्व कहते हैं। इसके प्रमुख तीन कार्य हैं–

(1) एकदम ढीला होकर नीचे की तरफ रहना। ऐसी स्थिति में यह मुख-विवर एवं श्वासनलिका के सम्बन्ध को विच्छिन्न कर देता है। इसके फलस्वरूप वायु नासिका-विवर से आती और जाती है।

(2) बिल्कुल उठ जाना। इस अवस्था में नासिकाविवर तथा श्वास नलिका के सम्बन्ध को विच्छिन्न कर देता है।

(3) मध्य में रहना। ऐसी परिस्थिति में थोड़ी वायु मुख-विवर से और थोड़ी वायु नासिका-विवर से आती-जाती रहती है।

ओष्ठ

वाणी के यन्त्रों के अनेक अवयवों में ओष्ठ बाहर स्थित दिखायी पड़ने वाला अवयव है। ऊपर नीचे दो ओष्ठ होते हैं जिनमें नीचे का ओष्ठ अधिक कार्य करता है। वैसे दोनों ओष्ठ परिस्थितिविशेष में ध्वनियों की निष्पत्ति में सहायक होते हैं।

(7) दन्त

मुख-विवर में ऊपर एवं नीचे की तरफ दातों की दो पंक्तियां रहती है। दाँतों की ध्वनियों के उच्चारण में अपनी भूमिका होती है। दाँतों को प्रमुख दो भागों में बाँटा जा सकता है– (1) मूल एवं (2) अग्र।

इस प्रकार देखा जाता है कि ये प्रमुख उच्चारणावयव दोनों ग्रन्थों में प्रयुक्त है जो कि ऊपर चर्चित किये जा चुके हैं। इनका प्रयोग चतुरध्यायिका एवं शुक्लयजुर्वेदप्रातिशाख्य दोनों में पाया जाता है।

वर्णोच्चारण में वायु का महत्त्व

वायु को समस्त ध्वनियों का आधार बतलाया गया है। शब्द का कारण बतलाते हुए वाजसनेयिप्रातिशाख्य 1/6-7 में कहा गया है कि शब्द का कारण वायु है तथा जल वायु आकाश से निष्पन्न होती है।[1] उवट का कथन है कि शब्द वायु के स्वरूप वाला होता है।[2] परन्तु यह शंका होना आवश्यक है कि शब्द बाह्यात्मक है तथा वायु के सब जगह गतिमान होने से सभी समय एवम् अवस्था में शब्दों की प्राप्ति भी होनी चाहिए।[3] इसका समाधान करते हुए वाजसनेयिप्रातिशाख्य 1/8 में सूत्रकार कहते हैं कि उचित उच्चारण साधनों से परिपूर्ण होकर हृदयप्रदेश में स्थित

---

1. वायुः खात्, शब्दस्तत्। वा.प्रा., 1/6-7.
2. शब्दस्तदात्मकः वायुवात्मक इत्यर्थः, वा.प्रा. 1/7 पर उवटभाष्य.
3. यदि वायुवात्मकः शब्दः, वायोः सर्वगतत्वात् सर्वदा सर्वत्रोपलब्धिः प्राप्नोतीत्याशङ्करोपेति, वा.प्रा., 1/8 पर उवटभाष्य.

वायु, वेणु, शङ्ख आदि से शब्द (ध्वनि) रूप में सामने आती है।[1] वेणु आदि वाद्य-यन्त्रों में जिस प्रकार ध्वनि के निष्पादन की योग्यता निहित रहते पर भी मानवकृत प्रयत्न आवश्यक होता है, इसी रूप से मनुष्य के उच्चारणावयवों में भी मनुष्यकृत आन्तरिक प्रयत्न वायु के आधार पर ध्वनि की उत्पत्ति करता है। यह वायु हृदय, कण्ठ तथा शिर इन तीन स्थलों पर संघात अर्थात् प्रयत्न के माध्यम से वाणी रूप में परिणत होती है।[2] वाजसनेयिप्रातिशाख्य 1/11,12,13 के अनुसार वायु जब पुरुषप्रयत्न के माध्यम से निकलती है तब इसके संवृत एवं विवृत दो करण होते हैं।[3] इन्हीं करणों से ककारादि वर्णात्मक शरीर की रचना होती है यहां शंका उत्पन्न होती है कि क्या शरीर से वायु के बाहर निकलने के साथ ककारादि अनेक वर्णों का संकलन हो जाता है? क्या अन्य स्थान तथा प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रहती? इसके समाधान के लिए वाजसनेयिप्रातिशाख्य 1/44 के अनुसार हृदयप्रदेश से बाहर आने वाला वायु शरीर के एक भाग मुख में आता है तथा तालू आदि अनेक स्थलों पर इसका निरोध होने से विविध वर्णों की निष्पत्ति होती है।

वर्णों के उच्चारण में प्रयत्न

वर्णों के उच्चारण में व्यक्ति को कुछ न कुछ प्रयत्न अवश्य करना पड़ता है। वायु जब फेफड़े से बाहर आते समय स्वरयन्त्र में आती है तब वायु को रोककर शरीर के अवयवों के माध्यम से अनेक प्रकार से विकृत किया जाता है। वर्णों के उच्चारण में लगने वाले शरीरावयवों के इस व्यापार को प्रयत्न कहते है। इसे दो भागों में विभक्त किया गया है– (1) बाह्य-प्रयत्न, (2) आभ्यन्तर-प्रयत्न।

स्वरयन्त्र अर्थात् मुख के बाहर होने वाले प्रयत्न को बाह्य प्रयत्न

---

1. सङ्घरोपहितः, वा. प्रा., 1/8.

2क. त्रीणि स्थानानि, वा.प्रा., 1/10.

2ख. स सङ्घातादीन् वाक्, वा.प्रा., 1/9.

3क. द्वे करणे, वा. प्रा., 1/11.

3ख. शरीरात्, वा. प्रा., 1/12.

3ग. शरीरम्, वा. प्रा., 1/13.

कहते है और मुख के भीतर होने वाले प्रयत्न को आभ्यन्तर प्रयत्न कहते हैं। वाजसनेयिप्रातिशाख्य में कात्यायन द्वारा बाह्य प्रयत्न का सारांश इस प्रकार है-

बाह्य-प्रयत्न

मुख के बाहर अर्थात् स्वर-यन्त्र में किये जाने वाले प्रयत्न को बाह्य प्रयत्न कहा जाता है। यह प्रयत्न मुख्यतः तीन प्रकार का होता है- (1) संवृत, (2) विवृत तथा (3) मध्य।[1]

चतुरध्यायिका एवं शुक्लयजुर्वेदप्रातिशाख्य में बाह्यप्रयत्न के सम्बन्ध में बतलाया गया है।

(1) संवृत– इस अवस्था में स्वर-तन्त्रियाँ एक दूसरे से अत्यन्त समीप रहती है एवं स्वर-यन्त्र का मुख बन्द रहता है। इस परिस्थिति में फेफड़े से बाहर निकलती हुई वायु से स्वरतन्त्रियों में घर्षण होता है। अतः उसमें कम्पन्न की स्थिति आ जाती है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य 13/1 के अनुसार से स्वर-यन्त्र मुख से इस अवस्था में निकलने वाली वायु नाद संज्ञक होती है।[2] नाद वायु के द्वारा स्वर वर्ण, स्पर्श-वर्णों से तृतीय और पञ्चम वर्ण तथा अन्तःस्थ वर्ण निष्पन्न होते है।

2. विवृत– स्वर यन्त्र तो इस परिस्थिति में खुला रहता है और स्वरतन्त्रियां एक दूसरे से दूर रहती है। इस अवस्था में फेफड़े से वायु संघर्षरहित होकर बाहर जाती है और स्वरतन्त्रियों में किसी भी प्रकार का कम्पन्न नहीं हो पाता। ऋग्वेद प्रातिशाख्य 13/1 में श्वास को बतलाया गया है। इसके अन्तर्गत स्पर्श वर्गों के प्रथम एवं द्वितीय वर्ण श्,ष्,स् तथा अयोगवाह वर्ण निष्पन्न होते हैं।

---

1. व्याकरणविदों ने ग्यारह बाह्यप्रयत्न बतलाये है जिनमें व्यञ्जन वर्णों के आठ और स्वर वर्णों के तीन प्रयत्न कहे गये हैं जो इस प्रकार है- व्यञ्जन वर्णों के- संवार, नाद, घोष, विवार, श्वास, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण. स्वर वर्णों के- उदात्त, अनुदात्त, स्वरित। इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि व्यञ्जन वर्णों के बाह्य प्रयत्न निर्धारित है परन्तु स्वर-वर्णों के अनिर्णित हैं.
2. स. प्रा., 13/1.

3. मध्य– स्वर-तन्त्रियां ऐसी परिस्थिति में न तो एक दूसरे से बहुत दूर रहती हैं तथा न बहुत समीप ही हैं, जिससे स्वर-यन्त्र मुख भी न तो पूर्णतया खुला रहता है तथा न ही पूर्णतया बन्द है। स्वर-यन्त्र की इस परिस्थिति में निकलने वाली वायु श्वास और नाद दोनों कही जाती है। इससे स्पर्श वर्गों के चतुर्थ वर्ण और हकार निष्पन्न होते है।

बाह्यप्रयत्न के आधार पर वर्णविभाजन

नाद (सघोष)	श्वास (अघोष)	श्वास और नाद
अ,आ,आ3,इ,ई,ई3	क,ख	घ
उ,उ,उ3, ऋ,ॠ,ॠ3,	च,छ	झ
लृ,लॄ,लॄ3, ए,ए3,ऐ,ऐ3	ट,ठ	ढ
ओ,औ3, ओ,औ3,	त, थ	ध
ग्,ङ्,ज्,ञ्,ड्,ण्,द्,न्	प, फ	भ
ब्,म्,य,र,ल,व	श,ष,स	ह
कुँ,खुँ,गुँ,घुँ	अः,ᳵ क,ᳵ प	

आभ्यन्तर-प्रयत्न

मुखविवर के अन्दर वर्णों उच्चारण के लिए किये जाने वाले प्रयत्न को आभ्यन्तर प्रयत्न कहते हैं। वाजसनेयिप्रातिशाख्य 1/43 में उवट ने आभ्यन्तर प्रयत्न को आस्य प्रयत्न तथा मुख प्रयत्न भी बतलाया है। चतुरध्यायिका में आभ्यन्तर प्रयत्न को करण नाम से अभिहित किया गया है।

वर्णों के उच्चारण में करण अर्थात् आभ्यन्तर प्रयत्न का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इसी प्रयत्न के सहयोग से मुखस्थ उच्चारण अवयव श्वास एवं नाद संज्ञक वायु से विविध प्रकार के वर्णों की निष्पत्ति में समर्थ होते है।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य एवं चतुरध्यायिका के अनुसार आभ्यन्तर-प्रयत्न के भेद

आभ्यन्तर प्रयत्न के पांच भेद अधोलिखित है– (1) स्पृष्ट, (2) ईषत् स्पृष्ट, (3) विवृत, (4) विवृततम तथा (5) संवृत।

1. स्पृष्ट– स्पृष्ट का शाब्दिक अर्थ है– स्पर्श किया हुआ। इसमें दो उच्चारणावयव एक दूसरे का स्पर्श करते हैं और पुनः पृथक् होकर वायु को बाहर जाने देते हैं। सभी स्पर्श स्पृष्ट आस्य प्रयत्न वाले है, ऐसा भाष्यकार उवट ने बतलाया है। चतुरध्यायिका 1.1.33 के अनुसार 'कतिपय आचार्य स्वर वर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न स्पृष्ट मानते है। चतुरध्यायिका 1.1.20 के अनुसार 'स्पर्शसंज्ञक' व्यञ्जनों का आभ्यन्तर प्रयत्न (करण) स्पृष्ट होता है।'[1] अर्थात् स्पर्श वर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न जिसमें मुख के दो उच्चारणावयव एक दूसरे का स्पर्श करते हैं।

2. ईषत्स्पृष्ट– ईषत् स्पृष्ट का शाब्दिक अर्थ है– अल्प सा स्पर्श किया गया। इस अवस्था में मुखस्थ उच्चारणावयव न तो एक दूसरे का पूर्णतया स्पर्श ही करते है तथा न एक दूसरे से दूर ही रहते है। अतः इस प्रयत्न में उच्चारणावयवों का अल्पमात्र स्पर्श होता है। वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में भाष्यकार उवट का मत है कि अन्तस्था वर्ण ही ईषत्स्पृष्ट आस्य प्रयत्न वाले हैं।[2] चतुरध्यायिका 1.1.30 में इसके लिए ईषत् स्पृष्ट का प्रयोग करते हुए कहा गया है कि 'अन्तस्था वर्णों (य,र,ल,व) का आभ्यन्तर प्रयत्न ईषत्स्पृष्ट होता है।'[3] अर्थात् अन्तःस्था वर्णों के उच्चारण में उच्चारणावयवों का थोड़ा सा स्पर्श होता है।

3. विवृत– विवृत का शाब्दिक अर्थ है- खुला हुआ। इसमें दो उच्चारणावयवों का आपस में स्पर्श नहीं हो पाता। अतः वे अलग-अलग रहते हैं। वाजसनेयिप्रातिशाख्य में भाष्यकार उवट के अनुसार ह्रस्व 'अ' से अतिरिक्त सम्पूर्ण स्वर (वर्ण) विवृत आस्य प्रयत्न वाले है।[4]

चतुरध्यायिका 1.1.31-32 के अनुसार 'ऊष्म वर्णों (श्,ष्,स्,ह्) का आभ्यन्तर प्रयत्न विवृत है तथा स्वर वर्णों का भी आभ्यन्तर प्रयत्न विवृत है।

4. विवृततम– विवृततम का शाब्दिक अर्थ है– पूर्ण खुला हुआ है।

1. स्पृष्टं स्पर्शानां करणम्, अ.च., 1.1.29.
2. ईषत्स्पृष्टास्यप्रयत्ना अन्तस्थाः, वा.प्रा., 1/72 उवट भाष्य.
3. ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम्, अ.च., 1.1.30.
4. विवृतास्यप्रयत्ना इतरे स्वराः, वा.प्रा., 1/72 पर उवट भाष्य.

इसमें दो उच्चारणावयवों का आपस में स्पर्श नहीं हो पाता। अतः वे अलग-अलग रहते हैं। चतुरध्यायिका 1.1.34-35 के अनुसार 'एकार तथा ओकर का आभ्यन्तर प्रयत्न विवृततम होता है।'[1]

5. संवृत– संवृत अर्थात् 'स्वाभाविक' या 'बन्द'। वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में भाष्यकार उवट के मतानुसार ह्रस्व अकार को संवृत आभ्यन्तर प्रयत्न कहते हैं।[2] अकार के उच्चारण की अवस्था में जिह्वा एवम् अन्य उच्चारणावयव स्वाभाविक रूप से रहते हैं। चतुरध्यायिका 1.1.36 के अनुसार 'अकार का आभ्यन्तरप्रयत्न संवृत होता है।'[3]

वर्णों के उच्चारण में स्थान तथा करण

वर्णों के उच्चारण स्थान तथा करण की विस्तृत व्याख्या चतुरध्यायिका से प्रथम अध्याय के कतिपय सूत्रों में हो गयी है जबकि वाजसनेयि प्रातिशाख्य के प्रथम अध्याय के अनेक सूत्रों में वर्णों के उच्चारण में स्थान तथा करण की व्याख्या की गयी है। वर्णों के उच्चारण को भली-भाँति जानने के लिए वर्णोंत्पत्ति में सहायक अङ्गों का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। वर्णों के उच्चारण में भीतर से बाहर निकलती हुई वायु को मुख विवर में रोकना पड़ता है या अनेक रूप में विकृत करना पड़ता है। तदर्थ दो अवयवों स्थान एवं करण की आवश्यकता रहती है। इसमें निष्क्रिय एवम् अपेक्षाकृत अचल अङ्ग को स्थान कहते है[4] और सक्रिय तथा गतिशील अङ्ग को करण।[5] वर्णों के उच्चारण में प्रमुख अङ्ग अर्थात् स्थान वह अङ्ग

1क. ऊष्मणां विवृतं च, (ख) स्वराणां च, 1/1.1.31-32.

1क. एकारांकारयोविवृततमम्। (ख) ततोऽप्याकारस्य, अ.च., 11.34-35.

2. संवृताम्यप्रयत्न अकारः, वा.प्रा., 1/72 पर उवट.

3. संवृतोऽकारः, अ.च. 1.1.36.

4. प्र.प्रा. 1/49 में उवटावार्य ने स्थान शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि अधिकरणं वर्णानां स्थानं शवदेनोच्चते। इसध तात्पर्य है कि वर्णों के आधार को स्थान से विहित कहा जाता है।

5. यह ज्ञातव्य है कि करण शब्द प्रातिशाख्यों में दो विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है कुछ में आभ्यन्तर प्रयत्न के लिए और कुछ स्थलों पर वर्णोच्चारण में प्रयुक्त सक्रिय उच्चारणावयवों के लिए। चतुरध्यायिका तथा वाजसनेयि- क्रमशः.....

विशेष है– जहां अन्दर से बाहर आती हुई वायु को रोककर अथवा अन्य प्रकार से उसमें विकार लाकर वर्णों की नित्पत्ति की जाती है और करण अङ्ग विशेष को कहते हैं जो उच्चारण के लिए अपेक्षित व्यापार (प्रयत्न) करता है। स्थान तथा करण के लिए वाजसनेयिप्रातिशाख्य में लक्षण सूत्र प्राप्त नहीं होता है।

चतुरध्यायिका के अनुसार वर्णों के उच्चारण में स्थान और करण

चतुरध्यायिका के प्रथम अध्याय में वर्णों के स्थान तथा करण का विस्तृत विवेचन किया गया है। वर्णोच्चारण में हृदयस्थ वायु को मुख-विवर में रोककर उसे विकृत करना पड़ता है। ऐसा करने के लिए दो अवयव (स्थान और करण) की आवश्यकता पड़ती है। उनमें एक मुखावयव अचल (स्थिर) तथा दूसरा गतिशील होता है। इस अचल (स्थिर) मुखावयव को स्थान तथा गतिशील को करण कहा गया है। इस प्रकार करण वह अङ्गविशेष है जो उच्चारण के लिए अपेक्षित प्रयत्न करता है तथा स्थान वह अङ्गविशेष है जहां भीतर से बाहर आती हुई वायु को रोककर अथवा अन्य किसी प्रकार से उनमें विकार लाकर वर्गों को उत्पन्न किया जाता है।

चतुरध्यायिका 1.1.18 के अनुसार "मुख में करण के कई प्रकार होते है।"[1]

चतुरध्यायिका 1.1.19 के अनुसार कण्ठ्य वर्णों (अ, आ इत्यादि) का सक्रिय मुखावयव (करण) अधः कण्ठ्य है अर्थात् कण्ठ्य स्वर निम्न

प्रातिशाख्य में जिह्वा आदि सक्रिय तथा गतिशील उच्चारणावयवों के सन्दर्भ में करण शब्द का प्रयोग किया गया है। अतएव करण शब्द की व्याख्या इस प्रकार होगी- क्रियते अनेन इति करणम्, जिससे अपेक्षित व्यापार किया जाता है उसे करण कहते है। वा.प्रा. के ज्योत्स्ना वृत्तिकार के द्वारा (करणमुत्पत्तिसाधनम्) करण को वर्णोत्पत्ति का साधन कहा गया है तै0प्रा0 में वर्णों के स्थान और करण के सम्बन्ध में विशेष रूप से बतलाया गया है उतना न हो चतुरध्यायिका में ही बतलाया गया है। और न तो वा.प्रा. में ही बतलाया गया है।

1. मुखे विशेषाः करणस्य, अ.च., 1.1.18.

कण्ठ्य से उच्चरित होते है।[1]

चतुरध्यायिका 1.1.20 के अनुसार जिह्वामूलीय वर्णों (ᳵक, ᳵख) का करण हनुमूल (कोमल तालु है) अर्थात् जिह्वामूलीय स्वर हनुमूल से उच्चरित होते हैं।[2]

चतुरध्यायिका 1.1.21 के अनुसार 'जिह्वा का मध्य भाग तालव्य वर्णों (इ, ई आदि) का करण सक्रिय मुखावयव है।[3]

चतुरध्यायिका 1.1.22 के अनुसार 'पीछे की ओर मुड़ा हुआ जिह्वा का अग्रभाग मूर्धन्य वर्णों का करण है।[4]

चतुरध्यायिका 1.1.23 के अनुसार 'द्रोणिका आकार वाली जिह्वा से षकार का उच्चारण होता है।[5]

चतुरध्यायिका 1.1.24 के अनुसार 'आगे की ओर फैला हुआ जिह्वा का अग्र-भाग दन्त्य वर्णों (तवर्ग आदि) का करण है।[6]

चतुरध्यायिका 1.1.25 के अनुसार 'ओष्ठ्य वर्णों (उ, ऊ, आदि) का करण निचला ओष्ठ है।[7]

चतुरध्यायिका 1.1.26 के अनुसार 'नासिक्य वर्णों (हुं) का करण नासिका है। अर्थात् नासिका से उच्चरित वर्णों के लिए नासिका करण होती है।[8]

चतुरध्यायिका 1.1.27 के अनुसार "अनुनासिक वर्णों (ङ्,ञ्,ण्,न्,म्)

---

1. कण्ठ्यानामधरकण्ठः, अ.च., 1.1.18.
2. जिह्वामूलीयानां हनुमूलम्, अ.च. 1.1.20.
3. तालव्यानां मध्यजिह्वम्, अ.च., 1.1.21.
4. मूर्धन्यानां जिह्वाग्रं प्रतिवेष्ठितम्, अ.च., 1.1.22.
5. षकारस्य द्रोणिका, अ.च., 1.1.23.
6. दन्त्यानां जिह्वाग्रं प्रस्तीर्णम्, अ.च., 1.1.24.
7. ओष्ठ्यानामधरोष्ठम्, अ.च., 1.1.25.
8. नासिक्यानां नासिका, अ.च., 1.1.26.

का उच्चारण मुख और नासिका दोनों से होता है। अर्थात् अनुनासिक वर्णों के उच्चारण के लिए मुह और नासिका दोनों की करण होते है। तात्पर्य यह है कि अनुनासिक वर्णों का करण मुख और नासिका बतलाया गया है।[1]

चतुरध्यायिका 1.1.28 के अनुसार 'रेफ (र्) का करण दाँतों की जड़ है। अर्थात् दन्तमूल से रेफ का उच्चारण होता है।'[2]

1. अनुनासिकानां मुखनासिकम्, अ.च., 1.1.27.
2. रेफस्य दन्तमुलानि, अ.च., 1.1.28.

द्वितीय अध्याय

सन्धि-विचार

संहिता

वैदिक व्याकरण के ग्रन्थ प्रातिशाख्यों में तथा लौकिक पाणिनीय व्याकरण में संहिता के स्वरूप और कार्य पर पर्याप्त विचार हुआ है। सन्धि नियमों के आधार पर पद-पाठ से संहिता-पाठ का निर्माण करना प्रातिशाख्य ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं। प्रातिशाख्यों में मुख्यतः उन्हीं नियमों का विधान किया गया है, जिनके आधार पर पदों से संहिता निष्पन्न होती है।

संहिता शब्द की व्युत्पत्ति एवम् अर्थ

संहिता शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'धा' धातु से क्त तथा टाप् प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है। संहिता का शाब्दिक अर्थ है– 'एकत्र रखा हुआ', 'सङ्कलित किया हुआ'। प्रातिशाख्यों में संहिता शब्द का प्रयोग मुख्यतः दो अर्थों में हुआ है–

1. वैदिक मन्त्रों के सङ्कलन के लिए, तथा
2. वर्णों के अत्यधिक सामीप्य के लिए।

पाणिनीय-व्याकरण में संहिता शब्द का प्रयोग वर्णों के अतिशय सान्निध्य को बतलाने के लिए ही किया गया है।

संहिता का स्वरूप

अथर्ववेद प्रातिशाख्य में संहिता के स्वरूप के विषय में बतलाते हुए कहा है कि संहिता को पदों से निष्पन्न जानना चाहिए।[1] अर्थात् जिस प्रकार तन्तुओं से वस्त्र का निर्माण होता है अथवा लकड़ी, पत्थर और

---

1. पदानां संहिता विद्यात्, अ.प्रा., 1/2.

मिट्टी से प्रासाद का निर्माण किया जाता है, उसी प्रकार सन्धि के नियम, संहिता के निर्माण के लिए, पदों को मिलाने के लिए कहे गये है।[1]

पा0व्या0 में 'संहिता' का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि वर्णों का अत्यधिक सामीप्य संहिता है।[2] अर्थात् जहाँ दो या दो से अधिक वर्ण सामीप्य में आते है, वही संहिता होती है। चाहे उस सामीप्य के परिणामस्वरूप कोई विकार हो या न हो। इस प्रकार देखा जाता है कि संहिता शब्द का प्रयोग पा0 व्या0 में वर्णों के अत्यधिक सामीप्य को बतलाने के लिए ही किया गया है।

संहिता के स्वरूप के विषय में प्रातिशाख्य ग्रन्थों में पर्याप्त विचार हुआ है। ऋग्वेद-प्रातिशाख्य के अनुसार 'काल का व्यवधान किये बिना जो पदान्तों का पदादियों के साथ मेल सम्पादन करती है, वह संहिता है।'[3] साधारणतः पदों का एकत्र रखा हुआ, वह रूप अथवा मेल-मिलाप संहिता है, जिसमें काल का निमेषात्मक अन्यांश भी असह्य होता है। अतएव संहिता पदों का समूह अथवा बाह्य नहीं है, क्योंकि पद अथवा बाह्य की अपेक्षा योग्यता, सन्निधि के साथ-साथ संहिता की अपेक्षा काल का व्यवधान भी अधिक है। पदों के मेल में जिस सन्निधि की अपेक्षा होती है। उससे कही अधिक त्वरित सन्निधि की अपेक्षा 'संहिता' में होती है। अतः संहिता 'बाह्य' के लक्षण से भिन्न है।

संहिता की आवश्यकता विभिन्न प्रकार के प्रकृतिभूत पदों में विकृति (विकार) उत्पन्न करने के लिए हुई और इसके लिए सूत्रकार ने लिखा है– 'संहिता पदप्रकृतिः'। भरत के रससूत्र पर जैसे उत्पत्तिवाद अनुमितिवाद, भूयितवाद और अभिव्यक्तवाद नामक चार प्रसिद्ध व्याख्याए प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार सूत्रकार के उक्त सूत्र पर भी उवट, यास्क, दुर्गाचार्य, वैदिकाभरणकार एवं वाक्प्रदीपकार भर्तृहरि के द्वारा की गयी व्याख्याओं और टिप्पणियों से दो विकल्प उपस्थित होते है– संहिता पदों की प्रकृति

---

1. यथा तन्तुना वासो यथा दासशिलामृदां प्रासादस्तथा च संधिशास्त्राणि पद-संधानार्थं प्रोक्तानि, अ.प्र., 1/2 पर व्याख्या.
2. परः सन्निकर्षः संहिता, पा.व्या., 1/4/109.
3. पदान्तान्पदादिभिः सन्दधदेति यत्सा कालाव्यवायेन, ऋ.प्रा., 2/2.

है? अथवा पद-संहिता की प्रकृति है? इसी मतभेद से अनेक अवान्तर भेदों की उत्पत्ति हुई– (1) पद-पाठ प्राचीन है या संहिता पाठ? अथवा (2) पद-पाठ अर्वाचीन है अथवा संहिता पाठ।

तथाकथित विकल्पों के विषय में विद्वानों ने यद्यपि अपने-अपने ढंग से समाधान प्रस्तुत किये है तथापि इस विषय में अथर्ववेदप्रातिशाख्य का मत सम्यक् प्रतीत होता है एतदर्थ पीछे उद्धृत लौकिक उदाहरण द्रष्टव्य है।

तैत्तिरीयप्रातिशाख्य पर भाष्य लिखते हुए वैदिकाभरणकार ने इसी आशय को स्पष्ट किया है कि विषय के प्रातिपादन में, सुविधा की दृष्टि से प्रातिशाख्य ग्रन्थों में पद-पाठ को मूलपाठ (प्रकृति) माना गया है, अर्थात् प्रातिशाख्य ग्रन्थों में पद-पाठ को प्रकृति तथा संहिता-पाठ को विकृति माना गया है।[1] परन्तु इसका यह अर्थ लगाना उचित नहीं है कि प्रातिशाख्य ग्रन्थ, पद-पाठ को प्राचीन और संहिता-पाठ को अर्वाचीन मानते हैं।

सन्धि

'सन्धि शब्द 'सम्' उपसर्ग-पूर्वक 'धा' धातु से 'कि' प्रत्यय लग कर निष्पन्न हुआ है। सन्धि का अर्थ है– संयोग, मेल। दो वर्णों के मेल को सन्धि कहा जाता है। प्रातिशाख्यग्रन्थों के अनुसार वर्णों के पास-पास आ जाने को सन्धि कहा जाता है। वर्णों को इस समीपता के परिणामस्वरूप विकार का होना आवश्यक नहीं है। सन्धि में वर्णों के मेल होने पर विकार हो भी सकता है और नहीं भी। पा0व्या0 में कहीं भी सन्धि शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। परवर्ती टीकाकारों ने बाद में सन्धि शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु अथर्ववेद-प्रातिशाख्य में ग्रन्थकार ने प्रथम प्रपाठक के दूसरे सूत्र की व्याख्या करते हुए सन्धि शब्द का प्रयोग किया है।[2]

संहिता तथा सन्धि

दो पदों, अक्षरों या वर्णों में होने वाला संयोग संहिता है, किन्तु सन्धि का प्रयोग भिन्न अर्थ में किया जाता है। संहिता दो पदों में सामीप्य

---

1. तै0प्रा0, 5/1, वै0 भा0.
2. अ. प्रा., 1/2 पर व्याख्या.

को उत्पन्न करती है, उसमें होने वाले विकार को उत्पन्न नहीं करती। परन्तु सन्धि, संहितागत पदों में विकार को उत्पन्न करती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि संहिता सन्धि[1] की मूलभित्ति है। संहिता दो पदों में अतिशय सामीप्य की अवस्था है तथा सन्धि, उन पदों में होने वाले विकार की अवस्था।

सन्धि के स्थल

सामान्य रूप से प्रातिशाख्यग्रन्थों तथा व्याकरणग्रन्थों में पदान्त तथा पदादि में ही मुख्य रूप से सन्धिभाव बतलाया गया है। दो भिन्न पदों में ही मुख्य रूप से सन्धि होती है। प्रातिशाख्य तथा पा0व्या0 में अन्तःपद सन्धि का भी विधान प्राप्त होता है। वस्तुतः प्रातिशाख्य तथा पा0व्या0 में सन्धि के लिए संहिता शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका सामान्य अर्थ 'दो भिन्न अथवा अभिन्न वर्णों का अतिशय सामीप्य हो जाना' किया जाता है चाहे वर्ण में विकार हो अथवा न हो। जैसे– 'नास्य' में वर्ण विकार स्पष्ट नहीं है किन्तु पितृणाम् में णकार का आकार होने से वर्ण-विकार स्पष्ट है। पा0व्या0 प्रगृह्य संज्ञा, प्रकृति भाव के कारण 'वरी एतो' आदि स्थलों में वर्ण विकार दृष्टिगोचर ही नहीं होता। इस प्रकार यद्यपि– (1) स्पष्ट वर्ण विकाररहित तथा (2) स्पष्टवर्ण विकाराभाव भेद से सन्धि स्थल दो प्रकार के माने जाते है, तथापि प्रत्येक सन्धि स्थल विकारात्मक ही होता है। चाहे वह अ आ इत्यादि के रूप में सरूपात्मक वर्णविकार वाला हो या उनके स्थान होने वाले ग् इत्यादि के रूप में विरूपात्मक

---

1. सन्धि के विषय में वैयाकरणों का मत है कि संहिता एक पद में, अर्थात् दो पदों की अत्यन्त एवम् अपरिहार्य सन्निधि के कारण उनमें सदैव ही सन्धि-भाव रहता है, उन्हें कभी बिना सन्धि के न बोलना 'संहितैकपद' होता है। और उसमें सदा ही नित्य सन्धि रहती है। जैसे– गणेशः। इसी प्रकार धातु और उपसर्ग के योग में (जैसे– प्र+अर्थ=प्रार्थ-प्रार्थयति) और समास में (जैसे– पीतम् अम्बरं यस्य सः पीताम्बरः–पीत+अम्बरः=पीताम्बरः) सन्धि कार्य नित्य होता है, किन्तु वाच्य के विषय में सन्धि करना या न करना ऐच्छिक होता है। जैसे–

   संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः।
   नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते।।

जैसे–पितृणाम्।[1]

सन्धि-नियामक परिभाषा-सूत्र

परिभाषा सूत्र उसे कहते है जो किसी विधि (विधायक) सूत्र के विधान में सन्देहावस्था का नियमन करने हेतु, प्रयुक्त होते है। सन्धियों के सम्यक् ज्ञान के लिए परिभाषा सूत्रों का ज्ञान अत्यावश्यक है। इस महत्व को दृष्टिगत रखते हुए चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य में परिभाषा सूत्र का प्रणयन हुआ है।[2]

चतुरध्यायिका में सन्धिविषयक केवल दो परिभाषा सूत्र उपलब्ध होते है, जो निम्नलिखित है– (1) आन्तर्येण वृत्तिः, अ.च., 1.4.4, (2) आकारः केवलः प्रथमं पूर्वेण, अ.च., 3.2.15।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य में वर्णों के एक श्वास में उच्चरित होने को 'संहिता' कहा गया है।[3]

चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य में सन्धि-सम्बन्धी विवेचन

1. चतुरध्यायिका में भिन्न-भिन्न प्रकार की सन्धियों का विस्तार से विधान किया गया है। पदों के अन्तिम वर्गों और प्रथम वर्णों को मिलाकर संहिता की निष्पत्ति करना ही सभी सन्धि नियमों का उद्देश्य है।

वाजसनेयिप्रतिशाख्य में सन्धिस्थल का विधान करते हुए कहा गया है कि सन्धि पद के अन्त और आदि में होती है।[4]

2. चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य दोनों ही प्रातिशाख्यों में विहित सन्धियों के सम्यग् ज्ञान के लिए सूत्रकार ने परिभाषा सूत्रों का प्रणयन किया जिनका विस्तृत विचार इस प्रकार है–

वाजसनेयिप्रातिशाख्य के अनुसार सन्धि का विशिष्ट विवेचन

'पदान्तपदाद्योः सन्धिः' अर्थात् पद के अन्त और आदि में होती है।

1. आन्तर्येण वृत्तिः, अ.च., 1.4.4.
2. आकारः केवलः प्रथमं पूर्वेण, अ.च., 3.2.15.
3. वर्णानामेकप्राणयोगः संहिता, वा.प्रा., 1/158.
4. पदान्तपदाद्योः सन्धिः वा.प्रा. 3/3.

उवटभाष्य के अनुसार 'वैदिकशास्त्रविषयक जो सन्धि कही जा रही है, उसे पदान्त और पदादि में जानना चाहिए। ये सन्धियां चार प्रकार की होती है–

(1) दो स्वरों के बीच में यथा– 'आ इदम्=एदम्'

(2) दो व्यञ्जनों के बीच में, यथा– 'सम् योमि सँय्योमि'

(3) स्वर और व्यञ्जन के पौर्वापर्य के व्यतिभ्रम से स्वर-व्यञ्जन-निमित्तक दो सन्धियां होती है–

(क) जब पूर्ववर्ती वर्ग स्वर होता है और परवर्ती वर्ण व्यञ्जन होता है। यथा– इषे त्वा=इषे त्वा

(ख) पूर्ववर्ती व्यञ्जन होता है और परवर्ती स्वर होता है। यथा– उत् एनम्=उदेनम्।

'न परकालः पूर्वकाले पुनः' अर्थात् (परकाल की सन्धि होने के बाद) पुनः पूर्वकाल की सन्धि प्राप्त होने पर परकाल की सन्धि (सिद्ध) नहीं रहत। अर्थात् असिद्ध हो जाती है।

उवटभाष्य के अनुसार 'कालों के मध्य में 'हि' को रखा गया है।' अर्थात् जो परवर्ती काल की सन्धि है वह पूर्ववर्ती काल की सन्धि दूसरी बार प्राप्त होने पर असिद्ध होती है। जैसे– 'आकार पूर्व में होने पर नकार, यकार हो जाता है' इस कथन से स्वर नष्ट में होने पर यकार से परवर्ती नकार के यकार होने का विधान किया गया है। जैसे– 'महाँ इन्द्रः' में।

'कण्ठ्य स्वर पूर्व में होने पर अरिफित विसर्जनीय यकार हो जाता है।' चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य में विहित सन्धियों को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–

स्वर सन्धि

दोनों ही प्रातिशाख्यों में भिन्न-भिन्न सूत्रों के माध्यम से यह चर्चित है कि पदान्त तथा पदादि में आने वाले स्वरों के मेल को स्वर-सन्धि कहते है। चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य दोनों में विहित स्वर-सन्धियों को पाँच भागों में विभाजित किया जा सकता है–

विकारयुक्त स्वर-सन्धि

दोनों ही प्रातिशाख्य में पृथक्-पृथक् सूत्र के माध्यम से यह बतलाया गया है कि– 'विकारयुक्त स्वर-सन्धि में पदान्त और पदादि स्वर मिलकर विकार रूप एक स्वर को प्राप्त करते हैं। कभी-कभी पदान्त या पदादि कोई एक स्वर ही विकार को प्राप्त करता है। चतुरध्यायिका में 10 प्रकार की विकारयुक्त स्वरसन्धियों का विधान किया गया है। और उसके कुछ अपवादों को भी प्रस्तुत किया है। (च0अ0 3/39-54, 2/21-24) दो स्वरों की सन्धि से जायमान अनुनासिकत्व के विषय में भी बतलाया गया है।[1]

स्वर वर्णों के विकार

(1) एकीभाव
- (1) सवर्ण दीर्घभाव
- (2) एकारभाव
- (3) ओकारभाव
- (4) ऐकारभाव
- (5) ऐकारभाव के अपवाद
- (6) औकारभाव तथा
- (7) औकारभाव के अपवाद।

एकीभाव

इस प्रकार के विकारों का विधान दोनों प्रतिशाख्यों में किया गया है। पदान्त और पदादि दोनों स्वर वर्णों का विकार होता है। परिणामस्वरूप दोनों स्वर वर्ण मिलकर एक हो जाते है। इस प्रकार दोनों स्वर वर्णों के मिल कर एक हो जाने के विधानों को एकीभाव के अन्तर्गत रखा गया है। दोनों प्रातिशाख्य में विहित एकीभाव विधान इस प्रकार है–

1. सवर्णदीर्घभाव– चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य दोनों ही प्रातिशाख्यों में विधान है कि यदि समानाक्षर स्वर वर्ण के बाद में सवर्ण वर्ण हो तो पदान्त तथा पदादि दोनों मिलकर सवर्ण दीर्घ हो जाते

---

1. अनुनासिकस्य च पूर्वेणैकादेशे, अ.च., 1.3.7.

हैं।[1] जैसे–

गृहष्व। अन्तरितम् (प.पा.) = गृहष्वान्तरितम् (सं0पा0)।
अपर्यतु (प.पा.) = प्रापर्यतु (सं0पा0)।

3. एकारभाव– सन्धि के विकार में पदान्त अवर्ण (अ तथा आ) और पदादि इवर्ण (इ, ई) मिल कर एकार हो जाते है।

= अ+इ=ए
= आ+ई=ए
= अ+ई=ए
= आ+इ=ए।

इस प्रकार का विधान दोनों प्रातिशाख्यों में समान रूप से किया गया है।[2] यथा–

न। इष्टि = नेष्टि,
वस। इहि = वसेहि।

ओकारभाव– दोनों ही प्रतिशाख्यों में ओकारभाव विकार का विधान समानरूपेण किया गया है। दोनों प्रातिशाख्यों के अनुसार आवर्ण (अ तथा आ) पूर्व में और उवर्ण (उ तथा ऊ) बाद में हो तो दोनों मिलकर ओकार हो जाते है।[3]

=अ+उ = ओ
आ+उ = ओ
अ+ऊ = ओ
आ+ऊ = ओ
यथा–त्वा। उर्जे = त्वोर्जे

1क. सिं सवर्णे दीर्घम्, वा. प्रा., 4/52.

1ख. समानाक्षरस्य सवर्णे दीर्घः, वा. अ.च., 3.2.19.

2क. कण्ठ्यादिवर्ण एकारम्, वा.प्रा. 4/54.

2ख. अवर्णस्येवर्ण एकारः, अ.च., 3.2.21.

3. उवर्ण ओकारम्, वा.प्रा., 4/55.
उवर्ण ओकारः, अ.च., 3.3.22.

ऐकारभाव– इनके अन्तर्गत वे विकार आते है जिनमें पदान्तीय अवर्ण और पदादि एकार या ऐकार मिलकर ऐकार हो जाते है।

दोनों प्रातिशाख्यों के अनुसार यदि अ तथा आ पूर्व में हो और ए अथवा ऐ बाद में हो तो दोनों मिलकर ऐकार हो जाते है।[1]

= अ+ए=ऐ
= आ+ए=ऐ
= अ+ऐ=ऐ
= आ+ऐ=ऐ।

यथा– इन्द्राय। ऐन्द्रम्=इन्द्रायैनम्। वा.सं., 19/18.

ऐकारभाव के अपवाद– वाजसनेयिप्रातिशाख्य में ऐकारभाव के अपवाद के विधान के अनुसार 'समुद्रस्येनं' तथा 'मन' में पूर्ववर्ती अवर्ण परवर्ती एकार में मिल गया है।[2] यथा– समुद्रस्य एनम्=समुन्द्रस्येनम्। वा.सं., 13/17.

चतुरध्यायिका में इस विधान का सर्वथा अभाव है।

औकारभाव– इनके अन्तर्गत वे विकार आते है जिनमें पदान्तीय अवर्ण और पदादि ओकर अथवा औकार मिलकर औकार हो जाते हैं। वाजसनेयिप्रातिशाख्य के अनुसार कण्ठ स्वर वर्ण (अ, आ) पूर्व में तथा सन्ध्यक्षर ओकार अथवा औकार बाद में होने पर दोनों मिलकर औकार हो जाते हैं। यथा–

इन्द्र । ओजिष्ठ = इन्द्रौजिष्ठः, वा.सं., 8/39.

ओकारभाव के अपवाद– वाजसनेयिप्रातिशाख्य में औकारभाव के अपवाद के विधान के अनुसार सन्ध्यक्षर बाद में होने पर अ और आ परवर्ती सन्ध्यक्षर के सहित ऐकार और 'औकार' हो जाते हैं। यथा– एवेमन् एवं त्वोदन्।

1क. सन्ध्यक्षर ऐकारोकारो, वा.प्रा., 4/58.

1ख. एकारेकारयोरेकारः, अ.च., 3.2.27.

2. समुद्रस्येमँस्त्वेमँस्त्वोदमन्निति च, वा. प्रा. 4/56.

त्वा एमन् = त्वेमन्।
त्वा ओद्मन् = त्वोद्मन्।

उपर्युक्त विधान में अवर्ण परवर्ती ओकार में, तथा एकार में मिल गया है। चतुरध्यायिका में इस विधान का सर्वथा अभाव है।

अर् भाव– वाजसनेयिप्रातिशाख्य में अर्भाव के विधान का सर्वथा अभाव है जबकि चतुरध्यायिका में अर्भाव के विधान के अनुसार अवर्ण (अ, आ) के साथ ऋवर्ण (ऋ ॠ) मिलकर अर् हो जाता है।[1]

यद्यपि इस विकार का विवेचन दोनों प्रातिशाख्यों में किया गया है। तथापि दोनों के विधानों में वैषम्य है। चतुरध्यायिका के अनुसार यदि अवर्णान्त उपसर्ग पूर्व में तथा एकार बाद में हो तो दोनों मिलकर आर् हो जाते हैं।[2]

वाजसनेयिप्रातिशाख्य के अनुसार अपृथक् कण्ठ्य स्वर आकार से परवर्ती ॠकार पूर्ववर्ती आकार के सहित आर् हो जाता है।[3] यथा–

आ। ॠत्ये = आर्त्ये। वा.सं., 30/9.

आल्भाव– वाजसनेयिप्रातिशाख्य के अनुसार अपृथक् कण्ठ्य स्वर आकार से परवर्ती लृकार पूर्ववर्ती आकार के सहित आल् हो जाता है।[4] भाष्यकार उवट के अनुसार कतिपय आचार्य इस विधान को व्यर्थ मानते हैं, क्योंकि संहिता में इसका कोई उदाहरण नहीं मिलता। अनुमानतः उदाहरण न मिलने के कारण ही चतुरध्यायिका में इस प्रकार का कोई विधान नहीं किया गया है।

अन्तस्थाभाव– चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य दोनों में ही अन्तस्थाभाव का विधान किया गया है। वाजसनेयिप्रातिशाख्य के अनुसार

---

1. (क) अरमृवर्णे, अ.च., 3.2.23.
   (ख) व्यसंन्त्यादिषु च, अ.च., 3.2.24.
2. उपसर्गस्य धात्वादावारम्, अ.च., 3.2.25.
3. आरमृकारोऽपृक्तात्, वा. प्रा., 4/60.
4. लृकारश्चाल्कारम्, वा. प्रा., 4/61.

स्वर बाद में होने पर अकण्ठ्य स्वर (=भावी=अ,आ से भिन्न स्वर) अन्तस्थ हो जाता है। (इवर्ण, उवर्ण, अवर्ण, लृवर्ण) यथा–

त्रि। अम्बकम् = त्र्यम्बकम्। वा.सं. 3/60।

(अर्थात् स्वर बाद में होने पर भावी स्वर (इवर्ण, उवर्ण, ऋवर्ग तथा लृवण) अपने सस्थानीय अन्तस्थ क्रमशः य्, व्, र् तथा ल् को जाने हैं।[1]

इ ई+स्वर=य्+स्वर, उ ऊ+स्वर व्+स्वर,
ऋ ॠ+स्वर=र्+स्वर, लृ ॡ+स्वर=ल+स्वर

लौकिक संस्कृत में यह विधान यण् सन्धि के नाम से प्रचलित है।

अन्तःस्थभाव के अपवाद– वाजसनेयिप्रातिशाख्य एवं चतुरध्यायिका दोनों ही प्रातिशाख्यों में पृथक्-पृथक् सूत्र के माध्यम से समान विषय चर्चित हैं।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य के अनुसार– इति बाद में होने पर अपृक्त उकार दीर्घ तथा अनुनासिक हो जाता है।[2] यथा–

ऊँ इति। वा.सं., 8/41.

चतुरध्यायिका के अनुसार इति के पूर्व में स्थित अपृक्त उकार दीर्घ एवम् अनुनासिक संज्ञक होता है।[3]

सन्ध्यक्षरों के विकार

इस विकार का विधान वाजसनेयिप्रातिशाख्य में किया गया है। चतुरध्यायिका में सन्ध्यक्षरों के विकार की चर्चा नहीं है।[4] चतुरध्यायिका में सन्ध्यक्षर का विधान करते हुए कहा गया है कि– सन्ध्यक्षर (ए, ओ, ऐ, ओ) दो स्वरों की सन्धि से निष्पन्न होते है और उनका उच्चारण एक

---

1. स्वरेभायन्तस्थाम्, वा.प्रा., 4/47.
2. उकारोऽपृस्तो दीर्घमनुनासिकम्। वा.प्रा., 4/94.
3. उकारम्येतावपृवतस्य, अ.च. 1.3.10.
4. दीर्घः प्रगृह्यश्च, अ.च., 1.3.11.

वर्ण के समान होता है।[1] जबकि वाजसनेयिप्रातिशाख्य में सन्ध्यक्षरों के विकार की चर्चा करते हुए सूत्रकार का कथन है कि स्वर बाद में होने पर सन्ध्यक्षर ए,ओ,ऐ,औ, क्रमशः अय्, अव्, आय्, आव् हो जाते है।[2]

लौकिकसंस्कृत में उपर्युक्त कथन अयादि सन्धि के नाम चर्चित है।

विकारविहीन स्वर-सन्धि

दोनों ही प्रातिशाख्यों में भिन्न-भिन्न सूत्रों के माध्यम से विकारविहीन सन्धि की चर्चा है। इस प्रकार की सन्धि में पास-पास विद्यमान दो स्वर-वर्णों में सन्धि के परिणामस्वरूप कोई विकार नहीं होता है।[3] इस विषय में चतुरध्यायिका में 10 सूत्रों के माध्यम से प्रगृह्य स्वरों का विधान किया है। वाजसनेयि प्रातिश्खाख्य में भी कतिपय सूत्रों के माध्यम से इस विषय पर सूत्रकार ने प्रकाश डाला है।

चतुरध्यायिका में 5 सूत्रों (3.2.10-14) के अन्तर्गत विकारविहीन सन्धि का प्रतिपादन किया गया है।

स्वरों की दीर्घता

चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य दोनों में कतिपय ऐसे पदों को उदधृत किया गया है जिनके ह्रस्व स्वर वर्ण संहिता में दीर्घ हो जाते है। इस विषय पर चतुरध्यायिका में 25 नियमों का विधान किया गया है (3.1.1) तथा वाजसनेयिप्रातिशाख्य के सूत्रों में भी स्वरों की दीर्घता

---

1. सन्ध्यक्षराणि संस्पृष्टवर्णान्येकवर्णवद्धृतिः, अ.च., 1.1.40.
2. सन्ध्यक्षरमयवायावम्, वा.प्रा., 4/48.

3क. प्रगृह्याश्च प्रकृत्या, अ.च., 3.2.10.

3ख. एना एहा आदयश्च, अ.च., 3.2.11.

3ग. यवलोपे, अ.च., 3.2.12.

3घ. केवल उकारः स्वरपूर्वः, अ.च., 3.2.13.

का निर्देश है।[1]

ह्रस्वभाव

2. वाजसनेयिप्रातिशाख्य 4/50 के विधानानुसार अकार बाद में होने पर पूर्व में स्थित कण्ठ्य स्वर (अ, आ) ह्रस्व हो जाता है।[2] उदाहरणार्थ विश्वकर्मा। अपिः (पद-पाठ) विश्वकर्म अपिः (नं0 पा0 13/58) स्वाहा। अषभम् (प0पा0) स्वाह अषभम् (सं.पा., 21/40)। चतुरध्यायिका में स्वरों की ह्रस्वता के विषय में नहीं बतलाया गया है।

व्यञ्जन वर्णों के विकार

पदान्त और पदादि में आने वाले व्यञ्जनों के संयोग को व्यञ्जन सन्धि कहते है। पदान्त तथा पदादि में स्थित व्यञ्जन वर्णों के विकार को अनेक भागों में विभक्त किया जा सकता है–

1. विसर्जनीयव्यतिरिक्त व्यञ्जन-सन्धि
2. विसर्जनीय-सन्धि
3. आगम
4. लोप
5. नति-सन्धि
6. विशिष्ट-विधान।

1क. सहावाडान्ते दीर्घः, अ.च. 3.1.1.

1ख. नारकादीनां प्रथमस्य, अ.च., 3.1.21.

1ग. दीदादादीनां द्वितीयस्य, अ.च., 3.1.22, नरहामित्रेषु च, वा.प्रा., 3/102.

1घ. तिष्ठाद्युदात्तम्, वा.प्रा., 3/103.

1ङ. प्रवगश्रृङ्ग्यासेषु, वा.प्रा., 3/104.

1च. निवारहारयोरनवग्रहे, वा.प्रा., 3/105.

2. कण्ठ्य अकारे ह्रस्वम्, वा.प्रा., 4/50.

विसर्जनीय-व्यतिरिक्त व्यञ्जन-सन्धि

(क) प्रथम स्पर्शों के विकार

चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य दोनों में पृथक्-पृथक् सूत्रों के माध्यम से प्रथम स्पर्शों के विकारों को बतलाया गया है। (च0अ0 के सूत्र– 2.1.2,5,6,13,14)। वाजसनेयि प्रातिशाख्य के अनुसार प्रथम स्पर्श के विकार निम्नांकित है– (4/119,4/122, 4/120)।

(ख) अन्तिम स्पर्शों में विकार (नकार तथा मकार के विकार)

स्पर्श व्यञ्जन वर्णों में नकार एवं मकार अत्यधिक परिवर्तनशील वर्ण है। दोनों ही वर्ण परिस्थिति के अनुसार दोनों ही प्रातिशाख्यों में विकारों को प्राप्त करते है। चतुरध्यायिका में नकार और मकार के 13 विकारों का विधान किया गया है– (2.1.10,11,12,25,26,27,28,29,30, 31-35) (2/30, 36, 37) में इनके अपवादों को प्रदर्शित किया गया है।[1]

वाजसनेयिप्रातिशाख्य के अनुसार–नकार तथा मकार अत्यधिक परिवर्तनशील वर्ण है। परिस्थिति के अनुसार ये अनेक रूपों में परिणत हो जाते है। वाजसनेयिप्रातिशाख्य 3/133-137, 140-150, 4/2-3,5,9, 14, के अनुसार नकार कभी शकार, भी सकार, कभी विसर्जनीय, कभी रेफ, कभी यकार इत्यादि विकारों को प्राप्त करता है।[2]

वाजसनेयिप्रातिशाख्य के अनुसार, मकार (4/1, 3, 5-8, 10 और 4/12 के अनुसार) शकार, सकार, अनुस्वार, परवर्ती स्पर्श के समान स्थान वाला पञ्चम स्पर्श तथा अनुनासिक अन्तस्थ इत्यादि विकारों को प्राप्त करता है।[3]

ऊष्म वर्णों के विकार

दोनों ही प्रातिशाख्यों में हकार और शकार के प्राप्त होने वाले विकारों

1क. स्पर्शोऽपञ्चमः स्वरधौ तृतीयम्, वा.प्रा., 4/120.

1ख. नकारस्य शकारेअकारः, अ.च., 2/10.

2. अनुस्वारं सोष्मसु मकारः, वा.प्रा., 4/1.

3. नुरश्चान्त पदेऽरेफे, वा.प्रा., 4/3.

को पृथक्-पृथक् सूत्रों के माध्यम से चर्चा हुई है।[1]

विसर्जनीय-सन्धि

सन्धि-प्रकरण में विसर्जनीय सन्धि अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। वाजसनेयिप्रातिशाख्य में विसर्जनीय के विकारों का अधिकार विसर्जनीयः (1/6) से प्रारम्भ होता है। विसर्जनीय वर्ण हमेशा पद के अन्त में आता है, किन्तु कुछ पदों के मध्य में भी यह वर्ण उपलब्ध होता है– दुःष्वप्न्यम् (सं.पा. 35/11)। विसर्जनीय से सम्बन्धित विकार-प्राप्त पदों के रूप सर्वाधिक है। चतुरध्यायिका में भी विसर्जनीय सन्धि का प्रतिपादन विस्तार से किया गया है।

चतुरध्यायिका के अनुसार विसर्जनीय का उकार, तकार और यकार में परिवर्तन

चतुरध्यायिका 2.2.19-20, 2.3.3, 2.3.1 के अनुसार विशेष परिस्थिति में विसर्जनीय उकार हो जाता है। 2.3.2 के अनुसार विर्सजनीय तकार हो जाता है,[2] और 2.2.4 के अनुसार स्वर-वर्ण बाद में होने पर विसर्जनीय यकार हो जाता है।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य के अनुसार- विसर्जनीय अत्यन्त परिवर्तनशील वर्ण है। परिस्थिति के अनुसार यह वर्ण ओकार, रेफ, शकार,[3] सकार, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय- इन वर्णों में परिणा हो जाता है। विसर्जनीय के इन वर्णों में परिवर्तित होने का विधान वाजसनेयिप्रातिशाख्य के छत्तीस सूत्रों (3/6-17, 21-44) में उपदिष्ट हैं।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 3/43 के अनुसार 'नाशः' पद बाद में होने पर भी दुः का विसर्जनीय उकार हो जाता है।[4] उदाहरणार्थ– दुःनाशः दुणाशः।

1क. तेभ्यः पूर्वचतुर्थो ह्कारस्य, च.अ., 2/7.

1ख. तवर्गीयाच्छकारः शकारस्य, च.अ., 2/17.

2. शुनि तकारः, अ.च., 2.3.2.

3. चछयोः शम्, वा.प्रा., 3/7.

4. नाशे च, वा. प्रा., 3/43.

विसर्जनीय का रेफ में परिवर्तन

चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य दोनों में यह विधान है कि विसर्जनीय परिस्थिति विशेष में रेफ हो जाता है। चतुरध्यायिका 2.2.3 के अनुसार– 'स्वर वर्ण बाद में होने पर नाभि स्वर के बाद में स्थित विसर्जनीय रेफ हो जाता है।'[1]

चतुरध्यायिका 2.2.4 के अनुसार–'सघोष व्यञ्जन बाद में होने पर नाभि स्वर के बाद में स्थित विसर्जनीय रेफ हो जाता है।[2]

वाजसनेयिप्रातिशाख्य के अनुसार– "स्वर तथा धि संज्ञक वर्ण बाद में होने पर भावी स्वर वर्ण (अर्थात् अवर्ण से अन्य स्वर– ई,उ, ऊ,ए,ऐ,ओ,औ) पूर्व में है जिसके वह विसर्जनीय तथा रिफित विसर्जनीय रेफ हो जाता है।'[3] यथा–

अग्निः। एकाक्षरेण = अग्निरेकाक्षरेण (वा.सं., 9/31)

चतुरध्यायिका 2.2.5 के अनुसार स्वर अथवा सघोष व्यञ्जन बाद में होने पर आवः : अकः, च, वि तथा अविभः का विसर्जनीय रेफ हो जाता है किन्तु सर्वनाम के उदाहरण में विसर्जनीय प्रकृतिभाव से रहता है।[4]

चतुरध्यायिका 2.2.6 के अनुसार स्वर अथवा सघोष व्यञ्जन बाद में होने पर द्वाः एवं वाः का विसर्जनीय रेफ हो जाता है।

चतुरध्यायिका 2.2.7 के अनुसार अहाः का विसर्जनीय रेफ हो जाता है किन्तु हा धातु का विसर्जनीय रेफ नहीं होता है।

चतुरध्यायिका 2.2.8 के अनुसार किसी सम्बोधन के एक वचन के रूप में विसर्जनीय रेफ हो जाता है जिसके द्विवचन का रू रो से अन्त होता है।

---

1. नाम्युपधस्य रेफः, अ.च. 2.2.3.
2. घोषवति च0, अ.च., 2.2.4.
3. रेफं स्वरधौ, वा. प्रा., 4/37.
4. आवः करवश्च वि वरविपरसर्वनाम्नः, अ.च., 2.2.5.

चतुरध्यायिका 2.2.9 के अनुसार अन्तः, पुनः, प्रातः, सनुतः तथा स्वः का विसर्जनीय रेफ हो जाता है। अव्यय होने पर ही अन्तः तथा स्वः का विसर्जनीय रेफ हो जाता है।[1]

चतुरध्यायिका 2.2.10 के अनुसार स्वर्षा में भी विसर्जनीय रेफ हो जाता है।

चतुरध्यायिका 2.2.11 के अनुसार नपुसंक लिङ्ग का अहः का विसर्जनीय रेफ हो जाता है।[2]

चतुरध्यायिका में रेफ का अपवाद

चतुरध्यायिका 2.2.12 के अनुसार विभक्ति प्रत्यय तथा रूप रात्रि रथन्तर शब्द बाद में स्थित होने पर अहः का विसर्जनीय प्रकृति भाव से रहता है।[3]

विसर्जनीय का ऊष्म वर्ण में परिवर्तन

दोनों ही प्रातिशाख्यों में विसर्जनीय का ऊष्म वर्ण में परिवर्तन होना चर्चित है। चतुरध्यायिका के अनुसार– 2.2.1 में विधान किया गया है कि विसर्जनीय परवर्ती अघोष के समान स्थान वाला हो जाता है। इसके अतिरिक्त 19 सूत्रों (2.3.1-19) में विसर्जनीय का सकार में परिवर्तन तथा उसके अपवादों का विधान किया गया है।

विसर्जनीय का लोप

दोनों ही प्रातिशाख्यों में विसर्जनीय के लोप का विधान किया गया है।[4] चतुरध्यायिका के अनुसार– 2.2.16-18, 20 में विसर्जनीय के लोप का विधान करते हुए कहा है कि सघोष व्यञ्जन बाद में होने पर आकार के बाद में स्थित विसर्जनीय का लोप हो जाता है। शेपहर्षणी और वन्दनेव वृक्षम् का विसर्जनीय का लोप हो जाता है। व्यञ्जन बाद में होने पर

---

1. अन्तःपुनःप्रातःसनुतःस्वरव्ययानाम्, अ.च., 2.2.9.
2. अहर्नपुंसकम्, अ.च., 2.2.11.
3. न विभक्तिरूपरात्रिरथन्तरेषु, अ.च., 2/51.
4. भूमेश्चाकारेऽपृचते, वा.प्रा., 4/40.

एषः और सः के विसर्जनीय का लोप हो जाता है। दीर्घायुत्वाय इत्यादि में विसर्जनीय का लोप हो जाता है।[1]

आगम

चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य दोनों ही प्रातिशाख्यों में आगम शब्द का विधान समानरूपेण किया गया है–

चतुरध्यायिका के अनुसार–2.1.8 सकार बाद में होने पर अकार के बाद तकार का आगम होता है।

चतुरध्यायिका 2.1.9 के अनुसार श्, ष्, म् बाद में होने पर ङ्, ण्, न् के पश्चात् क्रमशः क्, ट्, त् का आगम होता है।

चतुरध्यायिका 3.4.40 के अनुसार तुविष्टमः में सकार का आगम हुआ है।[2]

वाजसनेयिप्रातिशाख्य के अनुसार अतिरिक्त वर्ग का आ जाना आगम है। आचार्य कात्यायन ने 3/49-54, 4/15, 4/25 इत्यादि सूत्रों के माध्यम से र्, स्, ष्, श्, क्, त्, व्, इत्यादि वर्णों के आगम का विधान विस्तार से किया है।

लोप

परिस्थितिविशेष में जब किस वर्ण का अनुच्चारण किया जाता है तो उसे लोप कहते है। पद के आदि, मध्य तथा अन्त में कही भी लोप हो सकता है।

चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य दोनों में ही 'लोप' का विधान कतिपय सूत्रों के द्वारा किया गया है।

चतुरध्यायिका 2.1.18 के अनुसार उद उपसर्ग बाद में स्थित तथा और स्तम्भ धातुओं के सकार का लोप हो जाता है।[3] 2.1.19 के अनुसार

---

1. शेषहर्षणी वन्दनेव वृक्षम्, अ.च., 2.1.17.
2. तृविष्टमः, अ.च., 3.4.40.
3. लोप उदः स्थास्तम्भोः सकारस्य, अ.च., 2.1.18.

रेफ बाद में होने पर रेफ का लोप हो जाता है। 2.1.20 के अनुसार अनुनासिक स्पर्श बाद में होने पर, अनुनासिक स्पर्श के बाद में स्थित अनुनासिक स्पर्श का लोप हो जाता है।[1]

वाजसनेयिप्रतिशाख्य के अनुसार लोप

लोप का अर्थ है– वर्ण का अदर्शन अर्थात् वर्ण की अनुपलब्धि। सूत्रकार ने 3/18, 3/138, 4/41, 4/42, 4/99, 4/127, 4/130 इत्यादि सूत्रों में इ, ग, आ, अ, स, य व, इत्यादि के लोप का विधान किया है।[2]

नति-सन्धि

चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य दोनों में नति का प्रयोग हुआ है दोनों ही प्रातिशाख्यों के अनुसार जब किसी समीपवर्ती ध्वनि के प्रभाव से दन्त्य वर्ण मूर्धन्य वर्ण हो जाता है तब उसे नति कहते है। वाजसनेयिप्रातिशाख्य के अनुसार दन्त्य वर्णों (त,थ,द,ध,न,स) के मूर्धन्य वर्णों में परिणत हो जाने को नति कहते है।[3]

सकार का मूर्धन्यभाव

चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य दोनों में सकार के षकार होने का विधान है। वाजसनेयिप्रातिशाख्य में सत्ताइस सूत्रों में यह विधान अत्यन्त सुव्यवस्थित रूप से वर्णित है।[4]

---

1. स्पर्शादुत्तमादनुत्तमस्यानुत्तमे, अ.च., 2.1.20.

2क. यवयोः पदान्तयोः स्वरमध्ये लोपः, वा. प्रा., 4/127.

2ख. प्रउगमिति यकारलोपः, वा. प्रा., 4/130.

2ग. उदः स्तभाने लोपम्, वा. प्रा., 4/99.

2घ. अलोपो मांस्पचन्याः, वा. प्रा., 4/42.

3क. दन्तस्य मूर्धन्यापत्तिर्नतिः, वा. प्रा., 1/42.

3ख. मूर्धन्य– वे वर्ण जिनका उच्चारण मूर्धा से होता है, उन्हें मूर्धन्य कहते है, यथा– ट, ठ, ड, ढ, ण, र, ष.

3ग. दन्त्य– जिसका उच्चारण स्थान दन्त हो- उसे दन्त्य कहते है, जैसे– तवर्ग (त, थ, द, ध, न) ल, स.

4. अनुस्वाराच्च तत्पूर्वात्, वा.प्रा., 3/57-78.

चतुरध्यायिका में सकार के षकार होने का विधान विस्तार से किया गया है।[1] चतुरध्यायिका में सकार का षकार होता है इसके अपवाद का विधान किया गया है जबकि वाजसनेयि प्रातिशाख्य में इस विधान अभाव है।

तकार और धकार का मूर्धन्यभाव

चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य दोनों में तकार तथा धकार के क्रमशः टकार तथा ठकार होने का विधान किया गया है। चतुरध्यायिका के अनुसार– षकार के बाद भिन्न पद में स्थित होने पर भी तवग टवर्ग हो जाता है।[2]

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 3/79 के अनुसार अकार से परवर्ती तकार और धकार मूर्धन्य हो जाते है (अर्थात् तकार का टकार होता के थकार का ठकार होता है) जैसे–

वरुत्रीः त्वा = वरुत्रीष्ट्वा

आखरे स्थः = आखरेष्टः

नकार का मूर्धन्यभाव

नकार का मूर्धन्यभाव होने का विधान दोनों प्रातिशाख्यों में किया गया है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य के बारह सूत्रों में नकार के णकार होने का विवरण है।[3] जंबकि चतुरध्यायिका के 10 सूत्रों में नकार के णकार होने का विधान अत्यन्त विस्तार से किया गया है। चतुरध्यायिका में नकार के णकार न होने का अपवाद भी कतिपय सूत्रों के माध्यम से किया है जिसका वाजसनेयिप्रातिशाख्य में सर्वथा अभाव है।[4]

इस प्रकार सन्धिप्रकरण का वैदिक व्याकरण में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है।

●

---

1. अत्र नाम्युपधस्य षकारः, अ.च., 2.4.1-21.
2. षकारान्नापदेऽपि, अ.च., 2.1.16, आत्तथो मूर्धन्यम्, वा. प्रा., 3/79.
3. ऋपरेफेभ्यो नकारो णकार समानपटे, वा.प्रा., 3/84-95.
4. ऋवर्णरिफलकारेभ्यः समानपदे नोणः, अ.च., 3.4.1-11.

तृतीय अध्याय

स्वर-विचार

स्वर शब्द 'स्वृ' धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है। यह स्वर शब्द अनेक अर्थों का वाचक है। प्रातिशाख्यों में मुख्यतः तीन अर्थों में स्वर शब्द का प्रयोग हुआ है-

1. वर्ण-विशेष के लिए।
2. स्वर-वर्णों के उदात्तादि धर्म के लिए
3. क्रुष्ट्रादि स्वरों के लिए।

प्रातिशाख्यग्रन्थों में स्वर शब्द का प्रयोग मुख्यतः उक्त अर्थों में ही किया गया है। वाजसनेयिप्रातिशाख्य में स्वर दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है- 1. वर्णाविशेष के लिए, तथा 2. उनके उदात्तादि धर्म के लिए।

प्रातिशाख्यों में कुष्ट्रादि स्वरों के लिए न तो स्वर का प्रयोग हुआ है और न ही उनका विवेचन ही स्वरों को 'स्वर' कहने का तात्पर्य यह है कि ये वेदार्थ के ज्ञापक होते हैं और इसी आधार पर 'स्वर' का निर्वचन किया जाता है- 'स्वर्यन्तेऽर्था एभिः' अर्थात् इन (उदात्तादि स्वरों) के द्वारा (पदों का) अर्थावबोधन होता हैं अतः ये स्वर कहलाते है।

स्वर का महत्त्व एवं प्रयोजन

स्वर वैदिक-भाषा की प्रमुख विशेषता है। संस्कृत-भाषा के प्रभव-स्थान समस्त विद्याओं के आकर, संसार की अमूल्य निधिस्वरूप वेदों में अवावधि उदात्तादि स्वर विद्यमान है। वेदों के सूक्ष्मतम अभिप्राय को समझने के लिए स्वर प्रमुख है। वैदिक काल में याज्ञिक क्रियाओं में मन्त्रों का सस्वर ही पाठ होता था।

प्राचीन आचार्यों ने वेदार्थ में स्वर-ज्ञान की उपयोगिता को देखकर ही शिक्षा नामक वेदाङ्ग का प्रणयन किया था और वेदाङ्गों में उसका स्थान

सर्वोपरि माना था। पाणिनीयशिक्षा के अनुसार अशुद्ध स्वर में मन्त्र का उच्चारण करने पर वह मन्त्र अभिप्रेत अर्थ को प्रकट नहीं कर पाता हैं और अशुद्ध स्वर (Accent) से युक्त उच्चारित मन्त्र से ही अभीष्टार्थ प्राप्त होता है।[1] जिस प्रकार 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' इस मन्त्र में अशुद्ध स्वर का उच्चारण करने के कारण वृत्रासुर मारा गया। इन्द्र शत्रु शब्द में अन्तोदात्त होने पर तत्पुरुष समास होता है और आद्युदात्त होने पर बहुब्रीहि। 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' इस मन्त्र में तत्पुरुष समान का 'अन्तोदात्त' इन्द्रशत्रुः पद अभिप्रेत था; जिसका अर्थ था 'इन्द्र का शत्रु'। किन्तु ऋत्विजों की व्यवधानता से आद्युदात्त इन्द्रशत्रुः पद (अशुद्ध) उच्चरित हो गया, जिसका अर्थ हुआ 'इन्द्र जिसको सताने वाला है। अतः स्वर-ज्ञान अभीष्ट अर्थ-विशेष के लिए अपेक्षित है। पाणिनि ने भी इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये है जैसे– 'क्षयो निवासे', 'जयः करणम्' सूत्रों में आद्युदात्त 'क्षय' शब्द गृहवाची है और अन्तोदात्त हानि या नाश का 'जय' पद का अर्थ जीत का साधन आद्युदात्तदि है और अन्तोदात्त का अर्थ है– जीतना।

मीमांसासूत्र के भाष्यकार शबरस्वामी ने उल्लेख किया है कि मन्त्रों में उदात्तादि त्रैस्वर्य के उच्चारण की जो व्यवस्था है वह मन्त्रों के अर्थज्ञान के लिए है।[2]

ऋग्वेद के भाष्यकार तथा स्वरशास्त्र के परमवेत्ता आचार्य वेंकट माधव ने लिखा है कि जिस प्रकार अन्धकार में मशालों की सहायता से चलता हुआ मनुष्य कभी मार्ग में ठोकर खाकर नहीं गिरता, उसी प्रकार स्वरों की सहायता से किया गया मन्त्रार्थ स्पष्ट तथा सन्देहरहित होता है।[3] आचार्य वेंकटमाधव ने इस तथ्य का स्पष्टतः उल्लेख किया है कि जब

---

1. मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
   स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।।
   – पा० शि०, 52.
2. अथ त्रैस्वर्यादीनां कथं समाम्नातामिति?
   उच्यते अर्थावबोधनार्थं भविष्यति।– शबर स्वामी जै०मी०सू, भाष्य 9/2/31.
3. अन्धकारे दीपिकाभिर्गमन्न स्खलति क्वचित्।
   एवं स्वरैः प्रणीतानां भवन्त्यर्थाः स्फुटा इति।। स्वरानुक्रमणी, 1/8.

कहीं एक शब्द का अर्थ समान होगा, उस शब्द का स्वर सर्वत्र समान होगा, और जहां स्वर में भेद होगा वहां उनके अर्थ में भी परिवर्तन आ जायेगा।[1] स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जो वेदार्थ ज्ञान के लिए स्वरों की उपयोगिता को अपरिहार्य माना है।[2] स्वरों की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए महाभाष्यकार ने स्पष्ट कहा है कि उदात्त के स्थान पर अनुदात्त स्वर का उच्चारण करने वाले शिष्य को उपाध्याय महोदय तत्काल चाटा मार कर उसके अशुद्ध उच्चारण का निवारण करते थे।[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि वेदार्थ के स्पष्ट तथा सम्यग् ज्ञान के लिए उदात्त आदि धर्मविशिष्ट स्वरों का ज्ञान अत्यावश्यक है। उदात्त आदि स्वर पदार्थ निर्णय में तीन प्रकार से सहायता करते हैं–

1. पद के स्वरूप का ज्ञान कराने में।
2. पदगत अर्थ का ज्ञान कराने में।
3. वाक्यार्थ का प्रकाशन करने में।

1. स्वर द्वारा पद के स्वरूप का ज्ञान

पद चार प्रकार के होते है– (1) नाम, (2) आख्यात, (3) उपसर्ग तथा (4) निपात।[4]

कतिपय शब्द ऐसे होते हैं जिनके स्वरूप के विषय में सन्देह बना रहता है कि वे नाम पद हें या आख्यात पद, निपात है या उपसर्ग। इन चार प्रकार के पदों के स्वरूप ज्ञान के लिए 'स्वर' निर्णायक का काम करता है। ऋग्वेदानुक्रमणी के अनुसार नाम और आख्यात का विभाग 'स्वर' से ही जाना जा सकता है। जैसे– 'किम्' प्रतिपदिक के पुलिङ्ग प्रथमा विभक्ति एक वचन में 'कः' पद बनता है 'कृ' धातु का लुङ् लकार

---

1. अर्थाभेदे तु शब्दस्य सर्वत्र संदृशः स्वरः।
   यदा नतं स्वरं पश्येदन्यं तदा नयेत्।। स्वरानुक्रमणी, 1/8.
2. वेदार्थोपयोगितया संक्षेपतः स्वराणां व्यवस्था लिख्यते। ऋ0भा0भू0, तृतीय संस्करण, पृ0 374.
3. उदात्तस्य स्थाने अनुदात्ते बूते-खण्डिकोपाध्यायः तस्मै शिष्याय चपेटिकां ददाति। महा0भा0, 1/1.
4. नामाख्यातोपसर्गनिपातावगम्यते। ऋग्वेदानुक्रमणी, परिशिष्ट 4, पंक्ति 8.

में 'अकः' पद बनता है और अट् के अभाव में 'कः' पद की रह जाता है। यह 'कः' किम् सर्वनाम का रूप है या 'कृ' धातु का रूप? इसका निर्णय स्वर के द्वारा ही किया जा सकता है। यदि 'कः' उदात्त युक्त होगा तो वह 'सर्वनाम पद' होगा और अनुदात्त होगा तो 'क्रियापद'।

2. विभक्ति के स्वरूप-ज्ञान में सहायक

स्वर विभक्ति के स्वरूप का भी निर्णायक होता है। एवाञ्च व्यञ्जनान्त प्रातिपदिकों के द्वितीया बहुवचन तथा पञ्चमी और षष्ठी एकवचन के रूप में समान होते है। यहां स्वर से इनके विभक्ति रूप का निर्णय किया जाता है। यदि पटुता उदात्त है तो वह द्वितीया बहुवचन का होगा और यदि उदात्त प्रत्ययांशनिष्ठ है तो वह पञ्चमी या षष्ठी विभक्ति के एकवचन का रूप होगा। जैसे– वाचः, वाचः इत्यादि।

प्रथमा और सम्बोधन के रूपों में समानता होती है। दोनों का विभाग करने वाला स्वर होता है। यदि आद्युदात्त है तो वह सम्बोधन पद होगा, और यदि अन्तोदात्त है तो वह प्रथमा विभक्ति का रूप होगा।[1] जैसे– जनासः (=मनुष्य), जनासः (=हे मनुष्यों), देवाः (=दैव), देवाः (=हे देवो) इत्यादि।

3. लिङ्गनिर्धारण में सहायक

पद के लिङ्ग निर्धारण में भी स्वर सहायक होता है। वह शब्द ऐसे होते हैं जिनका पुलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में समान रूप होता है। ऐसे पदों में जो आद्युदात्त होता है वह नपुंसक लिङ्ग होता है और जो अन्तोदात्त होता है वह पुलिङ्ग होता है जैसे– रक्षः (नपुंसकलिङ्ग) रक्षः (पुलिङ्ग)। इसी प्रकार नपुंसक भावपद तथा पुलिङ्ग कर्त्तापद का भी अन्तर स्वर के द्वारा माना जा सकता है। जैसे– ब्रह्मन् (नपुंसक) = (प्रार्थना), ब्रह्मन् (पुलिङ्ग) = (प्रार्थना करने वाला)। यशम् (न0पु0) = (कीर्ति), यशम् (पु0) = (यशस्वी), अपस् (न0पु0), अपस् (पु0) (कार्य करने वाला) इत्यादि।

---

1. फिषोऽन्त उदात्तः। फि0सू0, 1/1.

समासयुक्त पदों के निर्धारण में स्वरों की उपयोगिता

समासयुक्त पदों के निर्धारण के लिए स्वरों को सर्वाधिक उपयोगिता है। स्वर के आधार पर ही यह निर्णय होता है कि अमुक पद में अमुक समास है। पाणिनिशिक्षा में 'इन्द्रशत्रुः' पद के स्वर परिवर्तन के कारण जो समास-परिवर्तन हुआ उसी के कारण अर्थपरिवर्तन का उल्लेख किया गया है।[1] यदि पूर्वपद को प्रकृति उदात्त है तब बहुव्रीहि समास होगा और उत्तर पद अन्तोदात्त है तब तत्पुरुष समास होगा। इस प्रकार आद्युदात्त 'इन्द्रशत्रुः' पद का अर्थ है 'इन्द्र को सताने वाला' तथा अन्तोदात्त 'इन्द्रशत्रुः' पद का अर्थ है 'इन्द्र का शत्रु'।

इस प्रकार सन्देहास्पद अनेक ऐसे स्थल हैं, जहा उनके स्वरूपनिर्णय में 'स्वर' अत्यावश्यक रहता है।

पदार्थ-निर्णय में स्वर की उपयोगिता

पदों का स्वरूप-निर्णय पदार्थ की भिन्नता के कारण होता है। अर्थ की दृष्टि से भिन्न होने पर ही पद का स्वरूप भिन्न होता है और अर्थ की भिन्नता स्वर की भिन्नता के कारण होती है। जब वक्ता किसी शब्द का कथन करता है, तब शब्द के किसी न किसी हिस्से पर उसका बल होता है। प्रत्येक नाम पद आख्यातज है क्योंकि वह किसी न किसी धातु से प्रत्यय लगा कर निष्पन्न होता है। वक्ता कभी धात्वंश पर बल देता है तो कभी प्रत्ययांश। पर शब्द एक ही होता है किन्तु धात्वंश पर बल देने से उसका अर्थ दूसरा हो जाता है और प्रत्ययांश पर बल देने से दूसरा। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित में उदात्त ही बलवान् होता है, अत एव बलाघात का समबन्ध इसी के साथ है। शब्द में जिस अंश पर वक्ता बल देता है, उसी अंश पर उदात्त समझना चाहिए, जिस अंश पर बल नहीं दिया जाता वह अनुदात्त होता है। निरुक्त में इसी बात का संकेत है कि उदात्त का अर्थ 'तीव्रतर' अर्थात् 'मुख्य' होता है और अनुदात्त का अर्थ अल्प अर्थात् गौण होता है।[2] स्वरों में उदात्त प्रधान होता है, अनुदात्तादि उसके सहायक होते हैं। 'तन्' प्रत्ययान्त प्रातिपदिक

---

1. पा0 शि0, 52.
2. तीव्रार्थतरमुदात्तम् उत्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम्। निरुक्त, 4/25.

आनुदात्त होता है और 'सृच्' प्रत्ययान्त प्रातिपदिक अन्तोदात्त होता है। दोनों प्रत्ययों के योग से एक ही शब्द बनता है किन्तु स्वर भेद के कारण अर्थ का भेद हो जाता है। वेंकटमाधव ने इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख किया है कि 'तन्' प्रत्यय में धात्वंश की प्रधानता होती है और 'तृच्' प्रत्यय में प्रत्ययांश की।[1]

सृन् प्रत्ययान्त आनुदात्त 'होता' पद का अर्थ है– उसी ढंग से आह्वान करने वाला और सृच् प्रत्ययान्त अन्तादात्त 'होता' पद का अर्थ है– 'आह्वान करने वाला'। प्रथम में क्रिया की प्रधानता है और दूसरे से कर्त्ता की भी प्रधानता है। इसीप्रकार जहां रूप साम्य हो किन्तु स्वर भेद हो वहां स्वर के अनुसार अर्थ करना चाहिए।[2]

वाच्यार्थ-निर्णय में स्वर की उपयोगिता

वाच्य में कहीं कोई पद उदात्तयुक्त होता है तो कहीं सर्वानुदात्त, यह सब अर्थभेद के ही कारण होता है। वाक्यार्थ एक हो और स्वर भिन्न-भिन्न हो, ऐसा कभी सम्भव ही नहीं है।

इदम्, एतत् के जो रूप अन्वादेश में सर्वानुदात्त होते है उसका कारण यह है कि वक्ता का उस पर जोर नहीं होता। वाक्य के प्रारम्भ में जब ये पद आते है तब ये मुख्य होते हैं, वक्ता का उस पर बल होता है अत एव उदात्तयुक्त होते है। इसी प्रकार जब ये सङ्केतवाचक विशेषण के रूप में विशेष्य पद के साथ आते है तब भी इनके अर्थ की प्रधानता होती है क्योंकि विशेषण-विशेष्य का निर्धारण करने वाला होता है अतएव उदात्तयुक्त होता है।

जब सम्बोधनपद, वाक्य के प्रारम्भ में होता है तब उसमें प्रथम वर्ण के उपर वक्ता का जोर होता है इसलिए यहाँ उदात्त स्वर हमेशा प्रथम वर्ण पर ही होता है। पाद के मध्य में जो सम्बोधन पद आता है, उसके

---

1. तृन्तृचोऽचाअर्थभेदौ यं प्रकृत्यर्थः स्फुटस्तृति।
   तृचि स्पृजः प्रत्ययार्थः प्रकृत्यर्थोपसर्जनः।। वेंकटमाधव, स्वरा0, 1/8/7.
2. सर्वत्रैवं समानेषु स्वरेणार्थौ व्यवस्थितः। वेंकटमाधव, 1/8/7.

ऊपर वक्ता का बल नहीं होता, अत एव वह सर्वानुदात्त होता है।[1] इसी प्रकार कहीं पाद के प्रारम्भ में भी सर्वानुदात्त और पाद के मध्य में भी उदात्तयुक्त सम्बोधन पद देखा जाता है। वहां भी अर्थ के अनुसार ही स्वर होता है।[2] वाक्य की अवधि में प्रयुक्त क्रियापद उदात्तयुक्त होता है तथा मध्य या अन्त में प्रयुक्त होने पर कभी सर्वानुदात्त और कभी उदात्तयुक्त होता है। वाक्य में कभी उदात्तयुक्त होना और कभी सर्वानुदात्त होना, अर्थ के ऊपर आधारित है। यदि पाद के मध्य में या पादान्त में क्रियापद सर्वानुदात्त है तो उसके अर्थ की प्रधानता नहीं होती। वाक्य के अन्त में उस क्रिया के अर्थ के साथ वाक्य का पर्यवसान करना चाहिए।

वेंकटमाधव ने स्पष्ट रूप से इस बात का उल्लेख किया है कि वाक्य के प्रारम्भ में क्रियापद जो उदात्तयुक्त होता है और अन्यत्र सर्वानुदात्त होता है उसका कारण केवल अर्थभेद ही है। श्रोता जिस प्रकार से अभिमुख हो, इसी अभिप्राय से क्रियापद को आरम्भ में उदात्तयुक्त करते है। प्रत्येक पाद पर रुक-रुक कर सभी अपना प्रयोजन बताते हैं, इसीलिए चार-चार उद्बोधन करने के लिए अर्थात् अर्थ पर बल देने के लिए पादादि में क्रियापद को उदात्तयुक्त करते हैं।

पादादि में सम्बोधन पद के बाद आने वाला क्रियापद इसलिए उदात्त होता है कि पूर्व में सम्बोधन पद अविद्यमानवत् समझा जाता है। वेंकटमाधव का कथन है कि सम्बोधन पद के द्वारा उद्बद्ध करने पर भी वाक्यार्थ का उद्बोधन करने के लिए 'तिङन्त' पद को उदात्तयुक्त किया जाता है।[3] धातु के 'लृट्' का क्रियापद, पाद के मध्य में ही जो उदात्तयुक्त होता

1. आमन्त्रितमुदात्तत्वमुच्चैरामन्त्रणे भवेत्।
नौचैरामन्त्रणे कार्ये पदे सर्वं निहन्यते।। स्वरानुक्रमणी, 1/2/1.
2. अर्थस्वभावाद्वाक्यस्य मध्यस्थं तन्निहन्यते।
अर्थस्वभावादुन्चैरुत्वं क्वचिन्मध्येऽपि दृश्यते।।
तथैव नीचैस्त्वमपि................।।
स्वरानुक्रमणी, 1/2/2-3.
3. तत्र सम्बोधनपदेर्नरः सम्बोधितोऽपि सन्।
वाक्यार्थोऽबोधनं कर्तुं पुनराजन्यते तिङ्। स्वरानुक्रमणी, 1/1/2.

है उसका भी कारण अर्थभेद ही है। संज्ञा पर वक्र (काकु) के कारण अर्थ पर बल देना होता है इसलिए क्रियापद उदात्त होता है। इस प्रकार सर्वत्र पद, समास अथवा वाक्य में जहाँ कहीं भी उदात्त की स्थिति हो उस अंश में काकु होता है।[1] अर्थात् इस पर वक्ता का बल होता है। पद में जिस अंश पर काकु है इसका पता लगाना कठिन है। वेंकटमाधव ने लिखा है कि किस पद में काकु है इसका पता केवल देवताओं को है, समास में कहीं काकु है इसे सूक्ष्मविद् ही जानते हैं तथा तिङ् पदों में जहां काकु है उसे प्राकृत लोग भी जानते हैं[2] इस कथन से स्पष्ट होता है कि 'तिङ्' पदों में काकु स्पष्ट दिखाई पड़ता है समास में उससे सूक्ष्म और पद में उससे भी सूक्ष्म होता है। वेंकटमाधव का कथन है कि पद, समास तथा वाक्य में जो 'काकु' की व्यवस्था है वह स्वर के द्वारा ही है।[3] इसलिए पदार्थ या वाक्यार्थ के लिए स्वर जान आवश्यक है जिनको स्वरों का ज्ञान नहीं, वे वेदार्थ नहीं कर सकते।

उपर्युक्त वर्णन का निष्कर्ष यह है कि पदों के स्वरूप के ज्ञान, पद-गत अर्थ के निर्णय तथा वाक्यार्थज्ञान के लिए 'स्वर-ज्ञान' आवश्यक है।

स्वराङ्कन विधान

सम्पूर्ण वैदिक संहिताओं में उदात्तादि स्वरों के चिह्न के विषय में समानता होते हुए भी पर्याप्त भिन्नता है। अथर्ववेदप्रातिशाख्य में विहित

1. यथा तिङ्श्रुहियुवतेष्ह्यु ह्यर्थे वाक्यस्य संस्थितिः।
एवं लृड्यपि संस्थानं तस्मिन्काकामिति स्थितिः।। स्वरानुक्रमणी, 1/1/17.

2क. एवं पदे समासे च यथोदात्तो व्यवस्थितः।
वर्गे पदे वा तत्रापि काकुरस्तीति निर्णयः।। स्वरानुक्रमणी, 1/1/21.

2ख. तत्रैकस्मिन्पदे काकुर्देवैरेवावगम्यते।
सूक्ष्मविद्भिः समासस्थः प्राकृतेरपि तिङ्स्वरः।। स्वरानुक्रमणी, 1/1/22.

3. वाल्यदृत्तिपकारो यं सदृशो लौकिकेष्वपि।
मन्यते पण्डितास्त्वन्ये यथाव्याकरणम् स्वरम्।।
व्यवस्थितो व्यवस्थायां हेतुस्तत्र न विद्यते।
माधवस्यत्वयं पक्षः स्वरेणेव व्यवस्थितः।।
वेंकटमाधव, स्वरानुक्रमणी, 1/1/23-25.

स्वरविषयक विधानों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि अथर्ववेदसंहिता में उदात्त स्वर अचिह्नित होता है। अर्थात् इसमें बिना चिह्न वाला स्वर उदात्त होता है। अनुदात्त के नीचे एक बड़ी रेखा (-) लगी रहती है और स्वरित के उपर एक खड़ी रेखा (।) लगी रहती है। वाजसनेयिप्रातिशाख्य में भी उपर्युक्त स्वरों का निर्धारण इसी प्रकार किया गया है। स्वरसङ्केत द्वारा स्वरों को दर्शाया गया है।

स्वरों की संख्या

वैदिक स्वरविषयक ग्रन्थों में स्वरों के विभिन्न भेदों का उल्लेख प्राप्त होता है। वाजसनेयिप्रातिशाख्य तथा चतुरध्यायिका (अथर्वप्रातिशाख्य) में मुख्य रूप से स्वरों से तीन भेद माने गये है– उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित। इसके अतिरिक्त वाजसनेयिप्रातिशाख्य में एक अन्य स्वर का भी विधान किया गया है, जिसे प्रचय कहा जाता है।

चतुराध्यायिका में स्वरित के सात भेदों का विधान किया गया है– अभिनिहित, प्रश्लिष्ट, जात्य, क्षैप्र, तैरोव्यञ्जन, पादवृत्त तथा तैरोऽवग्रह। इसके अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण 'कम्प' स्वर का भी विधान किया है।

उदात्त

चतुरध्यायिका 1.1.14 के अनुसार, "उच्च स्वर से जो उच्चारित होता है वह उदात्त संज्ञक होता है।'[1] (संगीत की भाषा में इसे तारसप्तक कह सकते हैं जैसे– सां रें गं इत्यादि।)

अनुदात्त

चतुरध्यायिका 1.1.15 के अनुसार निम्न ध्वनि से जो उच्चारित होता है वह अनुदात्त संज्ञक होता है।[2]

स्वरित

चतुरध्यायिका 1.1.16 के अनुसार आक्षेप अर्थात् उच्च ध्वनि से

---

1. समानयमेऽक्षरमुच्चेस्वात्तम्, अ0च0 1.1.14.
2. नीचैरनुदात्तम्, अ0च0, 1.1.15.

निम्न ध्वनि की ओर जाने से निष्पन्न स्वर स्वरित संज्ञक होता है।[1]

चतुरध्यायिका 1.1.17 के अनुसार 'स्वरित की आदि की अर्धमात्रा उदात्त होती है।[2] संगीत की भाषा में कहा जा सकता है कि स्वरित की 1/2 मात्रा तारसप्तक (सां रें) होती है तथा 1/2 मात्रा मध्य स्वर वाली (सा रे) होती है।

चतुरध्यायिका 3.3.11 के अनुसार 'पदान्त एकार तथा ओकर के बाद में अकार आने पर सन्धिज स्वरित 'अभिनिहित' संज्ञक होता है।'[3]

चतुरध्यायिका 3.3.12 के अनुसार 'दो ह्रस्व इकारों की सन्धि होने पर 'प्रश्लिष्ट' स्वरित होता है।'[4]

चतुरध्यायिका 3.3.13 के अनुसार 'यकार और वकार में अन्त में संयुक्त वर्ण के बाद में आने वाला अनुदात्त पूर्व अथवा अपूर्व स्वरित 'जात्य' संज्ञक होता है।'[5]

चतुरध्यायिका 3.3.14 के अनुसार 'अन्तःस्था वर्णों को प्राप्त होने वाले उदात्त स्वर के बाद में स्थित अनुदात्त का स्वरित होने पर 'क्षैप्र' स्वरित होता है।[6]

चतुरध्यायिका 3.3.15 के अनुसार पद में स्थित प्रथम पाँच रूपों में भी सन्धिज स्वरित क्षैप्र होता है।[7]

चतुरध्यायिका 3.3.16 के अनुसार 'उकारान्त प्रातिपदिकों के सभी रूपों में सन्धिज स्वरित क्षैप्र संज्ञक होता है।[8]

---

1. अक्षिप्तं स्वरितम्। अ0च0, 1.1.16.
2. स्वरितस्यादितो मात्रार्धमुदात्तम्। अ0च0, 1.1.17.
3. एकारौकारौ पदान्तौ परतोऽकारेऽभिनिहितः। अ0च0, 3.3.11.
4. इकारयोः प्रश्लिष्ट। अ0च0, 3.3.12.
5. अनुदात्तपूर्वात्संयोगाद्यवान्तात्स्वरितै परमपूर्वं वा जात्यः। अ0च0, 3.3.13.
6. अन्तःस्थापत्तावुदात्तस्यानुदात्ते क्षैप्रः। अ0च0, 3.3.14.
7. अन्तःपदेऽपि पञ्चपद्याम्। अ0च0, 3.3.15.
8. उकारस्य सर्वत्र, अ0च0, 3.3.16.

चतुरध्यायिका 3.3.17 के अनुसार ओण्योः में भी सन्धिज स्वरित क्षैप्र संज्ञक होता है।[1]

चतुरध्यायिका 3.3.18 के अनुसार व्यञ्जन से व्यवहित स्वरित तैरोव्यञ्जन संज्ञक होता है।[2]

चतुरध्यायिका 3.3.19 के अनुसार विवृत में होने वाला स्वरित पादवृत संज्ञक होता है।[3]

चतुरध्यायिका 3.3.20 के अनुसार 'पदों में अवग्रह से व्यवहित स्वरित 'तैरोऽवग्रह' संज्ञक होता है।'[4]

चतुरध्यायिका 3.3.21 के अनुसार उदात्त अथवा स्वरित बाद में स्थित होने पर अभिनिहित, प्रश्लिष्ट जात्य और क्षैप्र स्वरितों की अणु (3/4) मात्रा अनुदात्त उच्चरित की जाती है, उसे विद्वान् 'विकम्पित' कहते है।[5]

चतुराध्यायिका 3.3.22 के अनुसार दो स्वरों की जिस सन्धि में पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती स्वर वर्ण के उदात्त होने पर सन्धिज स्वर उदात्त होता है।[6]

चतुराध्यायिका 3.3.23 के अनुसार उदात्त स्वर से परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है।[7]

चतुरध्यायिका 3.3.24 के अनुसार पद-पाठ के भी समान पद में स्थित उदात्त स्वर से परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है।[8]

---

1. ओण्योश्च। अ0च0, 3.3.17.
2. व्यञ्जनव्यवेतस्तैरोव्यञ्जनः, अ0च0, 3.3.18.
3. विवृत्तौ पादवृत्तः। अ0च0, 3.3.19.
4. विग्रहे सविधः, अ0च0, 3.3.20.
5. अभिनिहितप्राश्लिष्टजात्यक्षैप्राणामुदात्तस्वरितोदयानामणुमात्रा निघाता विकम्पितं तत्कवयो वदन्ति। अ0च0, 3.3.21.
6. एकादेश उदात्तेनोदात्तः, अ0च0, 3.3.22.
7. उदात्तादनुदात्तं स्वर्यते। अ0च0, 3.3.23.
8. व्यासेऽपि समानपदे, अ0च0, 3.3.24.

चतुरध्यायिका 3.3.25 के अनुसार 'पदपाठ में अवगृह्य पदों में भी उदात्त स्वर के बाद में स्थित अनुदात्त स्वरित हो जाता है।[1]

चतुरध्यायिका 3.3.26 के अनुसार '(पद में) उदात्त या स्वरित बाद में होने पर उदात्तपूर्व अनुदात्त स्वरित नहीं होता है।'[2]

चतुरध्यायिका के अनुसार प्रचय का स्वरूप

चतुरध्यायिका 3.3.27 के अनुसार 'स्वरित से परवर्ती अनुदात्त, 'उदात्तश्रुति' संज्ञक होता है।'[3]

चतुरध्यायिका 3.3.28 के अनुसार 'पदपाठ में भी समान पद में स्थित स्वरित से परवर्ती अनुदात्त, 'उदात्तश्रुति' संज्ञक होता है।'[4]

चतुरध्यायिका 3.3.29 के अनुसार 'पदपाठ' में अवगृह्य पदों में भी स्वरित से परवर्ती अनुदात्त उदात्तश्रुति संज्ञक होता है।[5]

चतुरध्यायिका 3.3.30 के अनुसार (पद में) स्वरित अथवा उदात्त बाद में होने पर अव्यवहित पूर्ववर्ती स्वर अनुदात्त ही रहता है।[6]

शुक्लयजुर्वेदप्रातिशाख्य एवं चतुरध्यायिका में स्वरविषयक विधान

वैदिक वाङ्मय में स्वर का विशेष महत्त्व है। वाजसनेयिप्रतिशाख्य एवं चतुरध्यायिका दोनों में ही स्वर का विस्तृत विधान किया गया है।

स्वर के भेद

दोनों ही प्रातिशाख्यों में स्वरों के विभिन्न भेद बतलाये गये हैं। चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य के अनुसार उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये मुख्य स्वर माने गये हैं। इसके अतिरिक्त वाजसनेयिप्रातिशाख्य

---

1. अवग्रहे च, अ0च0, 3.3.25.
2. नोदात्तस्वरितपरम्, अ0च0, 3.3.26.
3. स्वरितादनुदात्तं उदात्तश्रुतिः, अ0च0, 3.3.27.
4. व्यासेऽपि समानपदे, अ0च0, 3.3.28.
5. अवग्रहे च, अ0च0, 3.3.29.
6. स्वरितोदात्तेऽनन्तरमनुदात्तम्, अ0च0, 3.30.

में 'प्रचय स्वर' का भी विधान है, जिसका चतुरध्यायिका में सर्वथा अभाव है।

उदात्त

दोनों ही प्रातिशाख्यों में उदात्त का समान लक्षण बतलाया गया है। दोनों प्रातिशाख्यों के अनुसार उच्च ध्वनि से उच्चरित होने वाला स्वर उदात्त कहलाता है।[1]

अनुदात्त

दोनों प्रातिशाख्यों के अनुसार निम्न ध्वनि से उच्चरित होने वाला स्वर अनुदात्त है।[2]

चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य के दोनों भाष्यकारों के अनुसार शब्दों के अधोगमन से जो स्वर निष्पन्न होता है, वह अनुदात्त संज्ञक होता है।

स्वरित

वाजसनेयिप्रातिशाख्य एवं चतुरध्यायिका दोनों में ही स्वरित का विधान है। वाजसनेयिप्रातिशाख्य में स्वरित का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि 'उदात्त तथा अनुदात्त- इन दोनों के धर्म वाला स्वर स्वरित कहा जाता है।' भाष्यकार उवट ने सूत्र में प्रयुक्त उभयवान् पद की व्याख्या करते हुए कहा है कि उदात्त का प्रयत्न उच्चारणावयवों का ऊर्ध्वगमन है तथा अनुदात्त का प्रयत्न उच्चारणावयवों का अधोगमन है। इन दोनों ऊर्ध्वगमन तथा अधोगमन वाले प्रयत्नों के समाहार से निष्पन्न होने वाला स्वर स्वरित संज्ञक होता है।[3]

1क. समानयमेऽक्षरमुच्चैरुदात्तम्। अ0च0, 1.1.14.

1ख. उच्चैरदात्तः, वा0प्रा0, 108.

2क. नीचैरनुदात्तम्, अ0च0, 1.1.15.

2ख. नीचैरनुदात्तम्। वा0प्रा0 109.

3क. उभयवान्त्स्वरितः, वा0प्रा0, 1/110.

3ख. आक्षिप्तस्वरितम्। अ0च0, 1.1.16.

चतुरध्यायिका के अनुसार 'आक्षेप अर्थात् उच्च ध्वनि से निम्न ध्वनि की ओर जाने से निष्पन्न स्वर स्वरित संज्ञक होता है।'

चतुरध्यायिका 1.1.17 के अनुसार 'स्वरित की आदि की अर्धमात्रा उदात्त होती है।[1] इससे यह स्पष्ट है कि वाजसनेयिप्रातिशाख्य 1/126 का कथन चतुरध्यायिका 1.1.17 से साम्य का बोध कराता है।[2]

चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य में 'स्वरित' स्वर का लक्षण सूत्रों के पृथक्-पृथक् होते हुए भी समान रूप से किया गया है।

चतुरध्यायिका एवं शुक्लयजुर्वेद के आधार पर स्वरित के स्वरूप के विषय में विशेष विचार

चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य दोनों में यह विधान किया गया है कि 'स्वरित-स्वर के आदि में आधी मात्रा उदात्त होती है।[1] वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में प्रस्तुत सूत्र पर उवट का कथन है कि स्वरित स्वर के आदि में उदात्त स्वर जानना चाहिए और वह उदात्त उतने काल तक उच्चरित होने वाला होता है जितना स्वर का आधा भाग है। चाहे स्वरित स्वर एक मात्रा हो, चाहे दो मात्रा वाला हो, चाहे तीन मात्रा वाला हो, सर्वत्र उसका आधा भाग उदात्त होता है और परवर्ती आधा भाग अनुदात्त होता है। जिस प्रकार सीसे (त्रपु) और तामे (ताम्र) का संयोग होने पर कासा नामक नवीन धातु की उत्पत्ति होती है, और जिस प्रकार गुड़ और दही का योग होने पर मार्जिका नामक अन्य वस्तु की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार उदात्त और अनुदात्त कां संयोग होने पर स्वरित नामक भिन्न स्वर की उत्पत्ति होती है।' इससे ज्ञात होता है कि ह्रस्व स्वर में आधी मात्रा उदात्त और आधी मात्रा अनुदात्त, दीर्घ में एक मात्रा उदात्त और एक मात्रा अनुदात्त, प्लुत में डेढ़ मात्रा उदात्त और डेढ़ मात्रा अनुदात्त होती है।[3]

---

1. स्वरितस्यादितो मान्त्रार्धमुदात्तम्। अ0च0, 1.1.17.
2. तस्यादित उदात्तं स्वरार्धमात्रम्। वा0प्रा0, 1/126.
3. स्वरितस्य स्वरस्य आदौ, उदात्तं ज्ञातव्यम्............................ एवमुदात्तानुदात्तसंयोगे स्वरितोत्पत्तिः। वा0 प्रा0, 1/26 उ0 भाष्य.

प्रचय

चतुरध्यायिका में प्रचय के लिए उदात्तश्रुति संज्ञा का विधान किया गया है जब कि वाजसनेयिप्रातिशाख्य में प्रचय संज्ञा का विधान है।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 4/141 में कहा गया है कि स्वरित से परवर्ती अनुदात्त प्रचय (उदात्तम) हो जाता है। स्वरित से परवर्ती अनेक अनुदात्त भी प्रचय हो जाते है। तात्पर्य यह है कि स्वरित के बाद में विद्यमान एक या अनेक अनुदात्त अक्षरों का उच्चारण उदात्त के समान होने लगता है।[1]

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 4/143 में यह विधान किया गया है उदात्त और स्वरित, बाद में होने पर अनुदात्त अक्षर प्रचय (उदात्तसम) नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि स्वरित के बाद में विद्यमान अनुदात्त तभी उदात्त के समान उच्चारित होता है, जब उस अनुदात्त के बाद में उदात्त या स्वरित न हो।[2]

चतुरध्यायिका 3.3.27 के अनुसार 'स्वरित से परवर्ती अनुदात्त 'उदात्तश्रहुति' संज्ञक होता है।[3]

चतुरध्यायिका 3.3.28 के अनुसार पद-पाद में भी समान पद में स्थित स्वरित से परवर्ती अनुदात्त, उदात्त-श्रुति संज्ञक होता है।[4]

चतुरध्यायिका 3.3.29 के अनुसार पद-पाठ में अवग्रह पदों में भी स्वरित से परवर्ती अनुदात्त 'उदात्तश्रुति' संज्ञक होता है।[5]

चतुरध्यायिका 3.3.30 के अनुसार 'स्वरित अथवा उदात्त बाद में होने पर अव्यवहित पूर्ववर्ती स्वर 'अनुदात्त' ही रहता है।[6]

---

1. स्वरितात् परमनुदात्तमुदात्तमयम्। वा0प्रा0, 4/141.
2. नोदात्तम्वरितोदयम्। वा0प्रा0, 4/143.
3. स्वरितादनुदात्त उदात्तश्रुतिः, अ0च0, 3.3.26.
4. व्यासेऽपि समानपदे, अ0च0, 3.3.28.
5. अवग्रहे च, अ0च0, 3.3.29.
6. स्वरितोदात्तेऽनन्तरमनुदात्तम्। अ0च0, 3.3.30.

उदात्त और प्रचय

जैसा कहा जा चुका है कि प्रचय स्वर मूलतः अनुदात्त ही होता है तथापि कुछ बातों में वह उदात्त से साम्य रखता है तथा कुछ बातों में वैषम्य जो इस प्रकार है–

साम्य–

(1) उदात्त की भाँति प्रचय स्वर पर कोई चिह्न नहीं लगाया जाता।

(2) प्रचय का उच्चारण उदात्त के समान होता है।

सम्भवतः इसलिए ही चतुरध्यायिका 3.3.27 में इसको 'उदात्तश्रुति' की संज्ञा से विभूषित किया गया है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि प्रचय उदात्त ही होती है, अपितु प्रचय और उदात्त के उच्चारण में अल्प सा अन्तर होता है।

उदात्त एवं प्रचय स्वर में वैषम्य

(1) उदात्त एक स्वतन्त्र स्वर है, किन्तु प्रचय स्वतन्त्र स्वर नहीं है।

(2) उदात्त कभी भी अनुदात्त नहीं होता है किन्तु 'प्रचय' उदात्त तथा स्वरित के बाद में होने पर, 'अनुदात्त' हो जाता है।

(3) उदात्त के पूर्व में अनुदात्त होता है अथवा कोई स्वर नहीं होता किन्तु 'प्रचय' के पूर्व में स्वरित अवश्य होता है।

स्वरों की भिन्न-भिन्न स्थिति

प्रायः सभी संहिताओं तथा ब्राह्मणों में जहाँ-कहीं स्वराङ्कन निर्दिष्ट है, वहाँ प्रचय स्वर को अचिह्नित ही छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार जिन ग्रन्थों में उदात्त अचिह्नित है उसके साथ 'प्रचय' को भी अचिह्नित देखकर सामान्य पाठक को यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि कौन अचिह्नित वर्ण उदात्त है तथा कौन अचिह्नित वर्ण प्रचय। तथाकथित सन्देह- निवारण के लिए उदात्त और प्रचय के अन्तर को समझ लेना आवश्यक है–

(1) पाद के आदि में आने वाला अचिह्नित वर्ण उदात्त होता है। जैसे– बृहेस्पते प्रथमम् उदाहरण में 'बृ' उदात्त है।

(2) जिस अचिह्नित वर्ण से पूर्व अनुदात्त का चिह्न हो, वह वर्ण 'उदात्त' होता है, जैसे- अग्निम्। प्रस्तुत उदाहरण में 'ग्नि' उदात्त है।

(3) सामान्य स्वरित के पूर्व आने वाला अचिह्नित वर्ग उदात्त होता है। जैसे- इन्द्रः (3) प्रस्तुत उदाहरण में 'इ' उदात्त है।

(4) दो अनुदात्तों के बीच जाने वाला बिना चिह्न का वर्ण उदात्त होता है। जैसे- अस्य पीत्वा। प्रस्तुत उदाहरण में 'स्य' उदात्त है।

उपरिनिर्दिष्ट अचिह्नित स्वरों की अवस्थाओं के अतिरिक्त आने वाला 'चिह्नित वर्ण निश्चित रूप से प्रचय होता है। यह निश्चित रूप से स्वरित के बाद आता है। स्वरित के बाद आने वाले अचिह्नित वर्ण, चाहे एक हो या अनेक हो, प्रचय ही होता है। जैसे- बृहस्पते प्रथमम्। इस उदाहरण में 'ह' के बाद और 'थ' से पूर्व के सभी अचिह्नित वर्ण पचय है।[1]

चतुरध्यायिका एवं शुक्लयजुर्वेद प्रातिशाख्य पर आधृत स्वरित स्वर के भेद

दोनों ही प्रातिशाख्यों में स्वरित के सात भेद है- (1) जात्य, (2) अभिनिहित, (3) क्षैप्र, (4) प्रश्लिष्ट, (5) तैरोव्यञ्जन, (6) तैरोविराम, (7) पादवृत्त।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 1/111 के अनुसार[2]

'एक पद में यकार और वकार से समन्वित जिस स्वरित के पूर्व में अनुदात्त होता है, वह जात्यस्वरित होता है।'

चतुरध्यायिका 3.3.13 के अनुसार 'यकार और वकार में अन्त होने वाले, संयुक्त वर्ण के बाद में जाने वाला, अनुदात्तपूर्व अथवा अपूर्व स्वरित 'जात्य' संज्ञक होता है।[3]

चतुरध्यायिका एवं शुक्लयजुर्वेद प्रातिशाख्य के अनुसार क्षैप्र स्वरित

दोनों प्रातिशाख्यों में पृथक्-पृथक् सूत्रों के माध्यम से क्षैप्र स्वरित

1. वैदिक स्वरबोध, पृ0 21.
2. एकपदे नीचपूर्वः सयवौ जात्यः। वा0प्रा0, 1/111.
3. अनुदात्तपूर्वसंयोगयवान्तात्स्वरितं परमपूर्वं वा जात्यः। अ0च0, 3.3.13.

का विधान किया गया है।

चतुरध्यायिका 3.3.14 के अनुसार 'अन्तस्था वर्णों को प्राप्त होने वाले उदात्त स्वर के बाद में स्थित, अनुदात्त का स्वरित होने पर क्षैप्र स्वरित होता है। चतुरध्यायिका 3.3.15 के अनुसार 'पद के मध्य में स्थित पाँच रूपों में भी सन्धिज स्वरित क्षैप्र संज्ञक होता है।"[1]

चतुरध्यायिका 3.3.16 के अनुसार 'उकारान्त प्रातिपदिकों के सभी रूपों में सन्धिज स्वरित क्षैप्र संज्ञक होता है।'[2]

चतुरध्यायिका 3.3.17 के अनुसार ओण्योः में भी सन्धित स्वरित क्षैप्र संज्ञक होता है।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य के अनुसार क्षैप्रस्वरित

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 1/115 के अनुसार 'जब उदात्त इवर्ण (इ, ई) और उवर्ण (उ, ऊ) क्रमशः यकार और वकार हो जाते है तब क्षैप्र संज्ञक स्वरित निष्पन्न होता है।[3]

चतुरध्यायिका एवं शुक्लयजुर्वेदप्रातिशाख्य के अनुसार तैरोव्यञ्जन स्वरित

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 1/117 के अनुसार 'व्यञ्जन से युक्त स्वर, तैरोव्यञ्जन संज्ञक हो स्वरित होता है।' उवटभाष्य के द्वारा उपर्युक्त कथन और भी स्पष्ट हो जाता है।[4]

उवटभाष्य के अनुसार- पूर्ववर्ती उदात्त से बाद में स्थित जो स्वर व्यञ्जन से युक्त होता है वह तैरोव्यञ्जन संज्ञक स्वरित (स्वर) कहलाता है। जैसे– 'क के रन्ते। मन्ये। काम्ये।'

चतुरध्यायिका 1.1.18 के अनुसार 'व्यञ्जन से व्यवहित स्वरित तैरोव्यञ्जन संज्ञक होता है।

1. अन्तःपदेऽपि पञ्चपद्याम्। अ0च0, 3.3.15.
2. अकारात्य सर्वत्र, अ0च0, 3.3.16.
3. युवर्णो यवोक्षैप्रः। वा0प्रा0, 1/115.
4. स्वरो व्यञ्जनयुतस्तैरोव्यञ्जनः। वा0प्रा0, 1/117.

चतुरध्यायिका एवं शुक्लयजुर्वेदप्रातिशाख्य के अनुसार तैरोविराम स्वरित

दोनों ही प्रातिशाख्यों में पृथक्-पृथक् सूत्र के द्वारा तैरोविराम स्वरित का विधान किया गया है।

चतुरध्यायिका 3.3.20 के अनुसार 'पदों में अवग्रह से व्यवहित स्वरित, तैरोऽवग्रह संज्ञक होता है।'[1]

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 1/118 के अनुसार सावग्रह पद के पूर्व पद का अन्तिम अक्षर उदात्त हो तो 'तैरोविराम' संज्ञक स्वरित स्वर होता है।[2]

चतुरध्यायिका एवं शुक्लयजुर्वेदप्रातिशाख्य के अनुसार पादवृत स्वरित का विवरण

चतुरध्यायिका 3.3.19 के अनुसार- विवृत होने वाला स्वरित पादवृत्त संज्ञक होता है।'[3]

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 1/119 के अनुसार 'विवृत्तिविशिष्ट (विवृत्ति से समन्वित) स्वरित पादवृत्त संज्ञक होता है।'[4]

चतुरध्यायिका एवं शुक्लयजुर्वेदप्रातिशाख्य के अनुसार अभिनिहित स्वरित

चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य दोनों में ही पृथक्-पृथक् सूत्रों के द्वारा समान विधान अभिनिहित स्वरित के लिए चर्चित है, जो इस प्रकार है–चतुरध्यायिका 3.3.11 के अनुसार पदान्त एकार तथा ओकार के बाद में अकार आने पर सन्धिज स्वरित अभिनिहित संज्ञक होता है।[5]

वाजसनेयिप्रातिशाख्य के अनुसार जब उदात्त एकार और ओकार

1. अवग्रहे सविधः, अ0च0, 3.3.20.
2. उदवग्रहस्तेरोविरामः। वा0प्रा0, 3.6.63.
3. विवृत्तौ पायवृत्तः। अ0च0, 3.3.19.
4. विवृत्तिलक्षणः पादवृत्तः। वा0प्रा0, 1/19.
5. एकारोकारौ पदान्तां परतोऽकारे सोऽभिनिहितः। अ0च0, 3.3.11.

से परवर्ती अनुदात्त अकार लुप्त हो जाता है तब अभिनिहित संज्ञक स्वरित होता है।

चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य के अनुसार प्रश्लिष्ट स्वरित

प्रश्लिष्ट स्वरित का विधान दोनों प्रातिशाख्यों में किया गया है। दोनों प्रातिशाख्यों के प्रश्लिष्ट-स्वरित के नियम समान है।

चतुरध्यायिका 3.3.12 के अनुसार 'दो ह्रस्व इकारों की सन्धि होने पर प्रश्लिष्ट स्वरित होता है।'[2]

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 1/116 के अनुसार 'दोनों ओर ह्रस्व रूप में विद्यमान इवर्ण, जब मिलकर, ईकार हो जाते हैं तब प्रश्लिश्ट संज्ञक स्वरित स्वर निष्पन्न होता है।'[3]

चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य के उपरिवर्णित सूत्रों के स्वरूप में वैषम्य होने पर भी दोनों के भाव में समानता दृष्टिगोचर होती है।

चतुरध्यायिका एवं शुक्लयजुर्वेदप्रातिशाख्य के अनुसार दो स्वरों का सन्धि का विधान

जब पदान्त और पदादि स्वर वर्ण के मिलने से एक नवीन स्वर वर्ण निष्पन्न होता है तब पदान्त स्वर वर्ण का स्वर और पदादि स्वर वर्ण का स्वर– दोनों स्वर भी एक स्वर हो जाते है। चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य दोनों में ही इस विषय का प्रतिपादन अत्यन्त रोचक विधि से किया गया है।

चतुरध्यायिका में केवल एक सूत्र 3.3.22 से, दो स्वरों की सन्धि का प्रतिपादन अत्यन्त सुचारु विधि से किया गया है। सूत्रकार ने एक ही सूत्र से अनेक सूत्रों के नियमों को अनुबन्धित किया है। कथन का तात्पर्य यह है कि संक्षेप में दो स्वरों की सन्धि के नियम का प्रतिपादन

---

1. इकारयोः प्रश्लिष्टः। अ0च0, 3.3.12.
2. अवर्ण उभयतो ह्रस्वः प्रश्लिष्टः, वा0प्रा0 1/116.

किया है। जबकि वाजसनेयिप्रातिशाख्य में अनेक सूत्रों के माध्यम से दो स्वरों की सन्धि का विधान किया गया है।

चतुरध्यायिका 3.3.22 के अनुसार दो स्वरों की सन्धि

दो स्वरों की जिस सन्धि में पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती स्वर वर्ण उदात्त होने पर सन्धिज स्वर उदात्त होता है।' प्रस्तुत सूत्र को सम्यक्रूपेण समझने के लिए चतुरध्यायिका में विदित्त सूत्रों का विवरण प्रस्तुत करना आवश्यक है, जो इस प्रकार है–

चतुरध्यायिका 3.2.19 के अनुसार 'समानाक्षर (अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ) समान स्थान वाले समानाक्षर के साथ मिल कर दीर्घ हो जाते है।'[1]

चतुरध्यायिका 3.2.21 के अनुसार– 'अवर्ण (अ या आ) के साथ इवर्ण (इ या ई) मिल कर एकार हो जाते है।

चतुरध्यायिका 3.2.22 के अनुसार 'अवर्ण (अ या आ) के साथ उवर्ण (उ या ऊ) मिलकर ओकार हो जाता है।[3]

चतुरध्यायिका 3.2.23 के अनुसार 'अवर्ण (अ, आ) के साथ ऋवर्ण (ऋ, ॠ) मिलकर अर् हो जाता है। देव+ऋषि=देवर्षि।[4]

चतुरध्यायिका 3.2.25 सूत्र के अनुसार अ अथवा उपसर्ग का आ, धातु से ऋ अथवा ॠ के साथ मिलकर अर् हो जाता है।[5]

चतुरध्यायिका 3.2.26 सूत्र के अनुसार भूतकालिक धातुरूपों में भी उवर्ण के साथ ऋवर्ण मिल कर आर् हो जाता है।

चतुरध्यायिका 3.2.27 सूत्र के अनुसार अ या आ के साथ ए या ऐ मिलकर ऐ हो जाता है।

---

1. समानाक्षरस्य सवर्णे दीर्घः, अ0च0, 3.2.19.
2. इवर्ण एकारम्, अ0च0 3.2.21.
3. उवर्ण ओकारः, अ0च0, 3.2.22.
4. अरमृवर्णे, अ0च0, 3.2.23.
5. उपसर्गस्य धात्वादावारम्। अ0च0, 3.2.25.

चतुरध्यायिका 3.2.28 सूत्र के अनुसार 'अ या आ के साथ ओ और औ मिल कर औ हो जाता है।

चतुरध्यायिका 3.2.29 सूत्र के अनुसार शकल्येषि इत्यादि में पररूप की प्राप्ति होती है।[1]

च0 अ0 3.2.30 के अनुसार 'पदान्त एकार तथा ओकार के बाद में स्थित पदादि अकार पूर्ववर्ती (ए, ओ) के साथ मिलकर एक हो जाता है।[1] अर्थात् मध्यक्षर बाद में होने पर अ पूर्ववर्ती सन्ध्यक्षर के सहित ऐकार और ओकार हो जाते है।

च0अ0 3.2.31 के अनुसार 'पदान्त ए, ओ के बाद में स्थित पदादि अकार कभी-कभी प्रकृतिभाव से रहता है।'[2]

वाजसनेयिप्रतिशाख्य के अनुसार स्वरों की सन्धि

वाजसनेयि प्रतिशाख्य के चतुर्थ अध्याय के कतिपय सूत्रों 4/131-136 में स्वरों की सन्धि के नियम को अत्यन्त सूक्ष्मता से बतलाया गया है। जब पदान्त स्वर वर्ण और पदादि स्वर-वर्ण के मिलने से एक स्वर वर्ण सम्पन्न होता है, तब पदान्त स्वर वर्ण का स्वर और पदादि स्वर-वर्ण का स्वर ये दोनों स्वर भी एक हो जाते है।

चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य के स्वरों की सन्धि में समता है।

उदात्त-भाव

दोनों प्रातिशाख्यों के अनुसार दो स्वर के जिस एकीभाव सन्धि में एक स्वर वर्ण, पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती अथवा दोनों पूर्ववर्ती तथा परवर्ती उदात्त हो तो स्वर सन्धि से निष्पन्न स्वर उदात्त होता है।[3] यथा– प्र अर्पयतु=प्रार्ययतु, ये अन्नेषु = येऽन्नेषु (वा0 16/61) इत्यादि।

---

1. शकल्यादिषु पररूपम्, अ0च0, 3.2.29.
2. एकारोकारान्तात्पूर्वः पदादेरकारस्य। अ0च0, 3.2.30.
3. क्वचित्प्रकृत्या, अ0च0, 3.2.31.

दोनों प्रातिशाख्यों में विहित स्वरितभाव

दोनों ही प्रातिशाख्यों के अनुसार उदात्त इवर्ण तथा उदात्त उकार के अन्तस्थाभाव में परवर्ती अनुदात्त स्वर वर्ण स्वरित हो जाता है। यथा–

दैवी एतु = दैव्येतु (वा0 33/89)

नु इन्द्र = न्विन्द्र (वा0 3/52)

दोनों ही प्रातिशाख्यों में स्वरित वाले एकीभाव में सन्धित स्वर स्वरित होता है। तात्पर्य यह है कि पदान्त अथवा पदादि स्वरित हो तो दूसरा स्वरित अथवा अनुदात्त हो तो दोनों की सन्धि होने पर सन्धिज स्वर स्वरित होता है। यथा– पथ्या इव = पथ्येव (वा 11/5)

अनुदात्त-भाव

दोनों ही प्रातिशाख्यों में अनुदात्त तथा उदात्त अथवा स्वरित की सन्धि होने पर सन्धिज स्वर क्रमशः उदात्त तथा स्वरित होता है। अनुदात्त तथा अनुदात्त की सन्धि होने पर सन्धिज स्वर के अनुदात्त होने का विधान तो स्पष्टतः दोनां में से किसी प्रातिशाख्य में नहीं किया गया है, किन्तु वाजसनेयिप्रातिशाख्य के इस परिभाषा 'आदेशाभाव में विकार हीं होता,[2] के अनुसार पदादि तथा पदान्त दोनों अनुदात्त होने पर सन्धिज स्वर के अनुदात्त होने की ही प्राप्ति होती है। यथा– पश्येम अक्षिभिः=पश्येमक्षिभिः (वा0 25/21)

हस्त-प्रचलन द्वारा स्वर-प्रदर्शन

उदात्तादि स्वरों को उनके उच्चारण के साथ-साथ हाथ द्वारा भी प्रदर्शित किया जाता है। इन स्वरों के हाथ द्वारा प्रदर्शित करने का विधान केवल वाजसनेयिप्रातिशाख्य में ही किया गया है। इसका कारण यह है कि शुक्लयजुर्वेद में ही इस प्रकार का प्रदर्शन होता है। अतः इसी वेद का प्रातिशाख्य होने से वाजसनेयिप्रातिशाख्य में स्वरों को हाथ द्वारा

---

1. उदात्तस्यान्तस्थीभावे स्वरित परमनुदात्तम्। वा0प्रा0, 4/49.
2. अनादेशेऽविकारः। वा0प्रा0 4/131.

प्रदर्शित करने का विधान किया गया है। उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित इन तीनों स्वरों के प्रदर्शित करने का सर्वाङ्गीण विवेचन तो नहीं प्रस्तुत किया गया है अपितु कुछ विशेष प्रदर्शन की विधाओं को ही बतलाया गया है।[1]

उदात्त का प्रदर्शन

वाजसनेयिप्रातिशाख्य में सूत्रकार उदात्त को हाथ द्वारा प्रदर्शन करने के विषय में मौन है, किन्तु भाष्यकार उवट ने उदात्त को, हाथ द्वारा प्रदर्शित करने की विधि को बतलाते हुए कहा है कि उदात्त के प्रदर्शन में हस्त का ऊर्ध्वगमन होता है।[2] अर्थात् उदात्त को प्रदर्शित करने के लिए हाथ को ऊपर ले जाया जाता है। चतुध्यायिका में इसका सर्वथा अभाव है।

अनुदात्त का प्रदर्शन

उदात्त की भाँति अनुदात्त से उच्चारण के विषय में भी सूत्रकार मौन है किन्तु भाष्यकार उवट ने अनुदात्त को प्रदर्शित करने की विधि बतलाते हुए कहा है कि अनुदात्त के प्रदर्शन में हाथ का अधोगमन होता है।[3] अर्थात् अनुदात्त को प्रदर्शित करने के लिए हाथ को नीचे ले जायां जाता है।

स्वरित का प्रदर्शन

स्वरित स्वरों के हाथ द्वारा प्रदर्शित करने का विधान करते हुए वाजसनेयिप्रातिशाख्य में कहा गया है कि चार स्वरित स्वर हाथ को तिरक्षा करके प्रदर्शित किये जाते है।[4] भाष्यकार उवट का कथन है कि जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र और प्रश्लिष्ट- इन चार स्वरितों को हाथ को तिरक्षा करके प्रदर्शित करना चाहिए। तिर्यक् हस्त द्वारा प्रदर्शित करने

---

1. हस्तेन ते, वा0प्रा0, 1/121.
2. तथोदात्ते ऊर्ध्वगमनं हस्तस्य, वा0प्रा0 1/121, उ0भा0.
3. अनुदात्तेऽधोगमनं हस्तस्य, वा0प्रा0, 1/121, उ0.
4. चत्वारस्तिर्यक्स्वरिताः, वा0प्रा0, 1/122.

का अर्थ है- पितृदानवत् हाथ करके।[1] इससे स्पष्ट होता है कि जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र और प्रश्लिष्ट इन चार स्वरितों को प्रदर्शित करने के लिए हाथ को तिरक्षा ले जाया जाता है। इस सन्दर्भ में काण्व आचार्य का मत कुछ भिन्न है। इनके अनुसार यदि अनुदात्त पूर्व में हो तभी जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट के उच्चारण में हाथ को तिरक्षा किया जाता है।[2]

स्वरों की दृष्टि से पद के प्रकार

वाजसनेयिप्रातिशाख्य के सम्पूर्ण द्वितीय अध्याय तथा छठे अध्याय के चौबीस सूत्रों में, कतिपय पदों का स्वरविषयक विधान प्रस्तुत किया गया है। वाजसनेयिप्रातिशाख्य 2/1 के भाष्य में उवट ने बतलाया है कि स्वर की दृष्टि से पद ग्यारह प्रकार के होते है- 1. सर्वोदात्त, 2. आद्युदात्त, 3. मध्योदात्त, 4. अन्तोदात्त, 5. द्व्युदात्त, 6. त्र्युदात्त, 7. पूर्वस्वरित, 8. आदिस्वरित, 9. मध्यस्वरित, 10. अन्तस्वरित, 11. सर्वानुदात्त।

उपर्युक्त उदाहरण में से कतिपय पद-प्रकारों के ज्ञान के लिए वाजसनेयिप्रातिशाख्य में विस्तृत विधान किया गया है। जिनका संक्षिप्त विवरण यहां प्रस्तुत है-

1. सर्वोदात्त पद- अग्ना3इ, लाजी3 न्, शाची3न् और ओम्, सर्वोदात्त पद है (2/50-5)।

2. आद्युदात्त पद- वाजसनेयिप्रातिशाख्य के चौबीस सूत्रों (2/22-45) में उल्लिखित अनेक पद आद्युदात्त होते हैं, यथा- रन्ते, हव्ये। काम्ये, चन्द्रे। ज्योति।

3. अन्तोदात्त पद- वाजसनेयिप्रातिशाख्य के कतिपय सूत्रों में अन्तोदात्त पद का विधान किया गया है। (2/54-62)।

---

1. जात्याभिनिहितक्षैप्रप्रश्लिष्टा एते चत्वारः स्वरिताः।
   तिर्यग्धस्तं कृत्वा स्वरणीयाः, पितृदानवदस्तं कृत्वेत्यर्थः।।
   वा0प्रा0, 1/122, उ0.
2. अनुदात्तं चेत् पूर्व तिर्यङ् निहत्य काण्वस्य। वा0प्रा0, 1/123.

4. द्व्युदात्त पद– वाजसनेयिप्रातिशाख्य 2/46-47 में द्व्युदात्त पद का विधान है। यथा– बृहस्पतिः, वनस्पति इत्यादि। सम्बोधन न होने पर देवताओं के नामों से बने हुए द्वन्द्व-समास भी द्विरुदात्त होते हैं।

5. त्र्युदात्त पद– इन्द्राबृहस्पतिभ्याम् और इन्द्राबृहस्पती में तीन अक्षर उदात्त होते है (2/49)।

6. सर्वानुदात्त पद– वाजसनेयिप्रातिशाख्य के द्वितीय अध्याय के अनेक सूत्रों में तथा षष्ठ अध्याय के स्वर-विषयक सभी सूत्रों में सर्वानुदात्त पदों से सम्बन्धित सामान्य नियमों एवम् अपवादों का प्रतिपादन किया गया है।

●

चतुर्थ अध्याय

पदपाठ विचार

पदपाठ का उद्भव

वैदिक कवियों की प्रतिभा छन्दोमय मन्त्र के रूप में प्रकट हुई। छन्दोमय होने के कारण उसमें एक लय था तथा पद एवं पदावसान के नियमों का पालन था। 'पाद' छन्द की इकाई होते है। अत एव प्रत्येक पाद का एक प्रयत्न में उच्चारण किया जाता है। जहां दो पादों के बाद अवसान होता था वहां दो पादों का भी एक ही प्रयत्न में उच्चारण किया जाता था। प्रत्येक पाद में कई पद होते थे। इस प्रकार एक प्रयत्न में उच्चारण करते समय यह स्वाभाविक था कि प्रत्येक पद के पदान्त और पदादि-वर्ण एक दूसरे से प्रभावित हों। पादगत पदान्त और पदादि वर्णों के बीच के समय का व्यवधान किये बिना एक प्रयत्न में जो उच्चारण किया जाता था, उसी को 'संहिता' कहा जाता था। वेदों का अध्ययन संहितापाठ के अन्य रूप में वेदों के अविर्भाव काल से ही होता चला आ रहा है। विभिन्न शाखाओं में चारों वेदों की संहिताओं का ही पठन-पाठन होता रहा है।

कालान्तर में वेदाध्ययन करने वालों को संहितागत मन्त्रों के अर्थ को समझने में कठिनाई से बचने के लिए मन्त्र-गत पदों को उनके मूल (विकार-रहित) रूप में उपस्थित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस सन्दर्भ में तत्कालीन कवियों ने वेदों का प्रवचन पद-पाठ के रूप में किया। इससे संहिता के कारण होने वाले विकारों के हट जाने से पदों के शुद्ध रूप का उच्चारण होते ही उनका स्पष्ट अर्थ परिज्ञात होने लगा। इस प्रकार विभिन्न आचार्यों के द्वारा वेदों की प्रत्येक संहिता के पद-पाठों का प्रादुर्भाव हुआ।

पद-पाठ का महत्त्व एवं प्रयोजन

चतुरध्यायिका में पद-पाठ का महत्त्व बतलाते हुए कहा गया है कि

पदों के अन्त, आदि, शुद्ध स्वरूप (शब्द) स्वर तथा अर्थ के ज्ञान के लिए पद-पाठ का अध्ययन किया जाता है।[1] इस सम्बन्ध में वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में उल्लिखित सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है, जिसके अनुसार वेदाध्ययन यदि वर्ण, अक्षर, विभक्ति और पद के रूप में भी किया जाता है तो उसका स्वयं पठन, एवं दूसरे से श्रवण, पुण्य-प्रद होता है।[2] प्रस्तुत कथनों से पद-पाठ के महत्त्व, उसके प्रयोजन एवम् उसकी आवश्यकला की ओर ध्यान इंगित किया गया है। शास्त्रकारों ने पद-पाठ के कुछ विशिष्ट प्रयोजन यथास्थान बतलाये है, जो इस प्रकार है–

(1) पद अपने अर्थ का ज्ञापन कराते है। पद के अर्थों का ज्ञान हो जाने पर (पद एवम् उनके अर्थ) मिलकर वाक्यार्थों का बोध कराते हैं। इस प्रकार पद के आधार पर पदार्थ का परिज्ञान तथा पदार्थ परिज्ञान के आधार पर वाक्यार्थ का ज्ञान होता है।

(2) सन्धिज स्थलों पर पद के मूलस्वरूप का स्पष्ट ज्ञान पद-पाठ से ही सम्भव होता है, क्योंकि इसमें संहिता का विच्छेद कर देने से मूलवर्ण तथा सन्धिज वर्ण का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। जैसे– पद-पाठ से ही यह पता चलता है कि 'तन्नः' में 'तम् नः' पद है या 'तत् नः' पद।

(3) मन्त्रगत पदों में 'सुप्' विभक्ति की शंका को दूर करना पद-पाठ का अन्यतम प्रयोजन है। निरुक्तकार यास्क ने उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट किया है कि ऋग्वेद संहिता में 'निवर्त्मा' पद दो स्थलों पर आया है। इनमें से निर्ऋत्या इदम् (ऋ0सं0 8/23) इस संहिता-पाठ के स्थल में पञ्चमी या षष्ठी का अर्थ माना जाता है, क्योंकि यहां पद-पाठ में 'निर्ऋत्या' पद विसर्जनीयान्त (निर्ऋत्याः) है। निर्ऋत्या अवस्य (ऋ0सं0, 8/22) इस संहिता-पाठ के स्थल में चतुर्थी का अर्थ माना जाता है।[3] क्योंकि यहाँ (पद-पाठ में) 'निर्ऋत्या' पद

1. पदाध्ययनमन्तादिशब्दस्वरार्थज्ञानार्थम्। अ0च0, 4/1/7.
2. वेदस्याध्ययनाद्धर्मः सम्प्रदानात्तथाश्रुतेः।
वर्णशोऽक्षरशो ज्ञानादिभवतिपदशोऽपि च।। वा0प्रा0, 4/37.
3. दूरे निर्ऋत्या इदमाजगाम इति पञ्चम्यर्थ- प्रेक्षा वा षष्ठयर्थ-प्रेक्षा वा आकारान्तम्। परो निर्ऋत्या अचक्ष्व इति चतुर्थ्यर्थ-प्रेक्षकारान्तम्। नि0,1/6.

एकारान्त है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि मन्त्रगत पदों की विभक्ति का ज्ञान पद-पाठ से होता है।

(4) पद-पाठ के द्वारा पद के प्रकृति-प्रत्यय का पृथक्-पृथक् ज्ञान हो जाता है, जिससे अर्थ को जानने में कोई कठिनाई नहीं होती। आचार्य यास्क ने इससे सम्बन्धित उदाहरण में कहा है कि– 'अवसाय पद' ऋग्वेद संहिता में दो स्थलों पर आया है। एक स्थल पर 'अवसाय' शब्द के पद-पाठ में अवग्रह नहीं है। इससे यह ज्ञात होता है कि यहाँ अवस शब्द का चतुर्थ्यन्त रूप 'अवसाय' है। द्वितीय स्थल में 'अवसाय' शब्द के पद-पाठ में अवग्रह किया गया है जिससे यह ज्ञात होता है कि यहाँ 'अव' उपसर्ग एवं 'स्यति' धातु है।

(5) वैदिक संस्कृत व्याकरण की मूलभित्ति है– 'पद-पाठ'। व्याकरण का अन्यतम प्रयोजन शब्दों की इकाइयों को पृथक्-पृथक् करके समझना है। पद-पाठ में सन्धि, समास, स्वर, उपसर्ग धातु प्रगृह्य, प्रातिपदिक, प्रत्यय तथा विभक्ति आदि का नियमानुसार पृथक्करण किया जाता है। संहिता-पाठ प्रकृति-भूत व अपरिवर्तनीय आधार है। पद-पाठ में सांहितिक विकारों को दूर कर दिया जाता है। अतएव पद-पाठ के नियम व्याकरणों के नियमों को विकसित करने के मूल-स्रोत है।

(6) वैदिक शब्दराशि की सुरक्षा के लिए पद-पाठ का विशेष महत्त्व है। पद-पाठ के आधार पर ही क्रम-पाठ, जटा-पाठ, घनपाठ आदि अष्ट विकृति पाठों की प्रथा प्रारम्भ हुई।[1]

(7) आधुनिक विद्वान् वेदगत मन्त्रों की प्रामाणिकता सिद्ध करने में भी पद-पाठ को सहायक मानते हैं। जैसे– शाकलीय ऋग्वेद-संहिता के छः मन्त्रों में के पद-पाठ नहीं है। प्रकाशित एवं लिखित पद-पाठों में उनका संहिता रूप ही दिया गया है। इससे प्रतीत होता है कि शाकल ने इन मन्त्रों को प्रामाणिक नहीं माना है।[2]

---

1. सम्प्रदाये क्रमादीनां पाठानां नास्ति पुस्तकम्। सं0प्र0शि0, 135.
2. डॉ0 रामगोपाल, वैदिक व्याकरण, पृ0 185.

सम्प्रति उपलब्ध वैदिक पद-पाठ

महाभाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार चारों वेदों की कुल एक हजार एक सौ इकतीस शाखाएं हैं उनमें से सम्प्रति केवल बारह शाखाओं के संहिता ग्रन्थ उपलब्ध है। उपलब्ध संहिता ग्रन्थों में सभी के परम्परागत पद-पाठ प्राप्त नहीं है। इस समय सात ही शाखाओं के पद-पाठ प्राप्त होते हैं, जिनका विवरण अधोलिखित है–

वेद	शाखा	प्रवचनकर्त्ता	उपलब्धि की स्थिति
ऋग्वेद	शाकल	शाकल्य	प्रकाशित
शुक्लयजुर्वेद	काण्व	अज्ञात	प्रकाशित किन्तु अनुपलब्ध
शुक्लयजुर्वेद	माध्यन्दिन	सन्दिग्ध	प्रकाशित
कृष्णयजुर्वेद	तैत्तिरीय	आत्रेय	प्रकाशित
कृष्णयजुर्वेद	मैत्रायणी	अज्ञात	अप्रकाशित किन्तु पाण्डु-लिपि के रूप में उपलब्ध
सामवेद	कौथुम	गार्ग्य	प्रकाशित
अथर्ववेद	शौनक	शाकटायन	प्रकाशित

अथर्ववेद का पद-पाठ एवम् उनके प्रवचनकर्त्ता

अथर्ववेद की शौनक-संहिता का ही पद-पाठ मिलता है, इसके प्रवचनकर्त्ता का नाम शाकटायन है। इसका पद-पाठ प्रायः ऋग्वेद के समान ही है। इसके उन्नीसवें काण्ड का पद-पाठ उपलब्ध नहीं होता और बीसवाँ काण्ड तो ऋग्वेद के समान ही है।

पदपाठ

पदपाठ-सम्बन्धी नियम

वैदिक संहितागत उपलब्ध पद-पाठों में यद्यपि पूर्ण समानता नहीं है तथा प्रत्येक शाखागत पद-पाठों में भी परस्पर भिन्नता मिलती है तथापि ऋग्वेद के एवम् अथर्ववेद के पद-पाठ के नियमों में समानता है।

चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य दोनों में ही पद-पाठ विषयक

विधान चर्चित है। अतः दोनों का पद-पाठ सम्बन्धी तुलनात्मक विवेचन किया जा रहा है–

दोनों ही प्रातिशाख्यों में पद-पाठ सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण नियमों का विधान किया गया है। चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य में समान रूप से पद-पाठ का महत्त्व बतलाते हुए कहा गया है कि पदों के वैदिक शुद्ध स्वरूप, उनके स्वर तथा अर्थ ज्ञान के लिए पद-पाठ का अध्ययन किया जाता है। चतुरध्यायिका में पद-पाठ के सामान्य नियमों का विधान किया गया है। चतुरध्यायिका तथा वाजसनेयिप्रातिशाख्य में पद-पाठ सम्बन्धी नियमों को छः भागों में विभाजित किया जा सकता है–

1. पद-विच्छेद सम्बन्धी नियम,
2. इतिकरणसम्बन्धी नियम,
3. चर्चा सम्बन्धी नियम
4. स्वर सम्बन्धी नियम
5. समापत्ति तथा
6. पद-पाठ में पदों का स्वरूप।

पद-विच्छेद सम्बन्धी नियम

पद-पाठ में पद-विच्छेद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पद-पाठ करते समय समस्त पदों का पृथगुच्चारण होता है। एक पद के बाद विराम होता है और तब दूसरे पद का उच्चारण किया जाता है। इस प्रकार पद-पाठ में विराम और अवग्रह के यथानिर्धारित सङ्केत चिह्नों के द्वारा पद विच्छेद किया जाता है। चतुरध्यायिका तथा वाजसनेयिप्रातिशाख्य में विहित पद-विच्छेद सम्बन्धी नियमों को 8 भागों में विभक्त किया जा सकता है।

1. आकार का विग्रह।
2. क्रिया तथा उपसर्ग के समास में अवग्रह तथा विग्रह।
3. आम्रेडित समास में अवग्रह द्वारा विग्रह।
4. अन्य समासों में विग्रह।

5. प्रातिपदिक तथा विभक्तिप्रत्यय में अवग्रह।
6. धातु तथा प्रत्यय में अवग्रह।
7. कतिपय अन्य पदों में अवग्रह।
8. अवग्रह के अपवाद।

आकार का विग्रह– पद के मध्य में अपृक्त आकार भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में सन्धि को प्राप्त हो जाता है। अत एव तत्तद् सन्दिग्ध स्थलों में आकार को पृथक् करने के लिए चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य दोनों में महत्त्वपूर्ण विधान किया गया है।

क्रिया तथा उपसर्ग का समास में अवग्रह तथा विग्रह– क्रिया से उपसर्ग का जहां समास नहीं होता वहां उपसर्ग को विराम लगाकर पृथगुच्चारित किया जाता है अर्थात् धातु से उपसर्ग का विग्रह किया जाता है। दो सूत्रों (अ0च0 4.1.54-55) में क्रिया तथा उपसर्ग के समास में अवग्रह सम्बन्धी नियमों का विधान किया गया है।[1] एवम् उनके कतिपय अपवादों को भी प्रस्तुत किया गया है।

इस सम्बन्ध में वाजसनेयिप्रातिशाख्य के नियम कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वाजसनेयिप्रातिशाख्य 5/1 के विधानानुसार सभी प्रकार के समासयुक्त पदों में अवग्रह होता है।[2] उदाहरणार्थ–

सुप्रजा इति सु - प्रजाः, सुप्रायना इति सु-प्रायनाः।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 5/15 के अनुसार वर्णवाचक, शब्द और संख्यावाचक शब्द के समास-पदों में विकल्प से अवग्रह होता है।[3] उदाहरणार्थ– पञ्चदशेति पञ्च-दश। त्रयोदशेति, त्रयः-दश।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 5/22 में जातूकर्ण्य आचार्य के मत से पारावतान् तथा आग्निमारुताः पदों में अवग्रह होता है।[4] उदाहरणार्थ– पारावतान्

---

1. उपसर्ग आख्यातेनोदातेन समस्यते। अ0च0, 4/1.
2. समासेऽवग्रहो ह्रस्वसमकालः। वा0प्रा0, 5/1.
3. वर्णसङ्ख्येऽन्यतरतः, वा0प्रा0, 5/15.
4. पारावतानाग्निमारुताश्चेति जातुकणर्यस्य। वा0प्रा0, 5/22.

(सं0पा0) = वारावतानिति पारा-वतान् (प0पा0), अग्निमारुताः (सं0पा0) = अग्निमारुता इत्यग्नि-मारुताः।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 5/23 के अनुसार कुछ आचार्यों के मत से अधीवासम् पद में भी अवग्रह होता है।[1] जैसे– अधीवासम् (सं0पा0) = अधिवासमित्यधि-वासम् (प0पा0)।

बहुपद समास में अवग्रह– एक समासयुक्त पद में बहुत से पद रहने पर भी अवग्रह होता है। अत एव दो से अधिक पदों वाले समास में यह विचार आवश्यक हो जाता है कि किस पद के साथ अवग्रह किया जाय? इस सम्बन्ध में वाजसनेयिप्रातिशाख्य का साधारण नियम इस प्रकार है–

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 5/7 के अनुसार बहुपद समास में, समास रचना के क्रम में जो आगन्तुक पर्व अर्थात् अन्तिम पदरूप इकाई जोड़ दी जाती है उससे पृथक्करण किया जाता है। उदाहरणार्थ– प्रजापतिः (सं0पा0 31/12) = प्रजापतिरिति प्रजा-पतिः (प0पा0)।

उक्त समस्त पद में तीन पद है– प्र-जा-पतिः। समास संरचना में पहले प्र-जा पद में समास किया जाता है। इस समासयुक्त पद का पुनः पति के साथ समास होता है। अत एव प्रजापतिः इस समस्त पद में समास संरचना क्रम के अनुसार अन्तिम इकाई पतिः है। फलतः उक्त विधानानुसार पतिः के साथ अवग्रह हुआ है। प्रजापति गृहीतया (सं0पा0, 13/39= प्रजापतिगृहीतयेति प्रजापति-गृहीतया (प0पा0)। इस उदाहृत पद में– प्र-जा-पतिः-गृहीतया इन चार पदों का समास रूप में संकलन हैं। समास संरचना में सर्वप्रथम प्र-जा के मध्य समास तत्पश्चात् प्रजा-पतिः के मध्य समास तथा सबसे अन्त में प्रजापति गृहीतया के मध्य समास हुआ है। फलतः आगन्तुक पर्व अर्थात् अन्त्य इकाई गृहीतया है। अत एव गृहीतया के साथ अवग्रह किया जाता है।

सुप्रजाः (स0पा0 3/37) सप्रजा इति, सु-प्रजाः (प0पा0)। इसमें सु-प्र-जा इन तीन पदों का संकलन है। समास रचना-क्रम में पहले प्र-जा

---

1. अधीवासमित्येके। वा0प्रा0, 5/23.

के बीच समास होता है और बाद में सु-प्रजा पद के मध्य समास होता है। सुप्रजाः इस समासयुक्त पद में उच्चारण क्रम में सु पद का प्रथम स्थान है तथा समासरचना क्रम में उसका अन्तिम स्थान है। अत एव उक्त विधानानुसार सु पद से अवग्रह किया जाता है।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 5/2 के अनुसार अतिशय (अर्थात् किसी की अपेक्षा किसी को अधिक बताने के) अर्थ में प्रयुक्त तर एवं तम् प्रत्यय से अवग्रह हो जाता है, यदि दक्षिण शब्द समीप में न हो।[1] उदाहरणार्थ–

(1) पूर्णतरम् (सं0पा0, 18/10) पूर्णतरमिति पूर्ण-तरम् (प0पा0)।

(2) वह्नितमम् (सं0 पा0, 1/8) बह्मितममिति बह्मि-तम् (प0पा0)।

(3) उत्तरः (सं0 पा0, 23/4) उत्तरइत्युत्-तरः (प0पा0)।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 5/3 के अनुसार वीतम, हुतम, सृतम, गोपातम, रत्नधातम तथा वसुधातम ये तमप् प्रत्ययान्त पद अपने पूर्वपद के साथ अवग्रहीत होते है।[1] उदाहरणार्थ–

(1) देववीतमः (सं0पा0,11/37)=देववीतम इतिदेव वीतमः (प0पा0)।

(2) सुसुतमम् (सं0पा0, 6/30)=सुषतममितिषु-सुतमम् (प0पा0)।

(3) देवहुतमम् (सं0पा0, 1/8)=देवहुतमम् इति देव-हुतमम् (प0पा0)।

(4) सुगोपातमः (स0पा0, 8/31)=सुमोपातम इति सु-गोपातम् (प0पा0)।

(5) रत्नधातमम् (सं0पा0,26/20)=रत्नधातममिति रत्न-धातमम् (प0पा0)।

1क. तरतमयोश्चातिशयेऽश्रिगप्रत्यामञ्चे। वा0प्रा0, 5/2.

1ख. मातरम् (सं0पा0, 19/8), कारोतरेण (सं0पा0 19/80) इत्यादि में तङ् शब्द अतिशयार्थक नहीं है। अत एव अवग्रह नहीं होता है।

द्यावापृथिव्योर्दश्रिणं पार्श्व विश्वेषां देवानामुत्तरम् (वा0सं0पा0 25/5 स्थल में दक्षिण पद का प्रत्यासङ्ग होने से उत्तरतः पद में अवग्रह नहीं होता)। वा0प्रा0, 5/2, पर उ0भा0.

(6) वसुधातमः (सं0पा0, 27/14)=वसुधातम इति वसु-धातमः (प0पा0)।

यह ज्ञातव्य है कि सूत्र में कथित सम्पूर्ण पदों में वाजसनेयिप्रातिशाख्य 5/1 से भी अवग्रह प्राप्त होता है। तथा 5/2 से भी अवग्रह प्राप्त होता है। दो नियमों की एक साथ प्रवृत्ति होने पर वाजसनेयिप्रातिशाख्य 1/159 की परिभाषानुसार परवर्ती शास्त्र अर्थात् वाजसनेयिप्रातिशाख्य 5/2 का विधान प्रबल होता है। वाजसनेयिप्रातिशाख्य 5/2 के विधान को प्रतिबन्धित करने के लिए सूत्रकार ने प्रस्तुत विधान किया है।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 5/4 के अनुसार सर्पदेवजनेभ्यः पद में पूर्वपद से अवग्रह हो जाता है।[1] उदाहरणार्थ– सर्पदेवजनेभ्यः (सं0पा0, 30/8)= सर्पदेवजनेभ्य इति सर्प-देवजनेभ्यः (प0पा0)।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 5/5 के अनुसार तृणवध्मम् पद में उत्तरवर्ती पद से अवग्रह हो जाता है।[2] उदाहरणार्थ– तृणवध्मम् (सं0पा0, 30/19)= तृणवध्ममिति तृणव-ध्मम् (प0पा0)।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 5/6 के अनुसार रायस्पोषदे तथा विजावा पदों में परवर्ती पद के द्वारा अवग्रह होता है।[3] उदाहरणार्थ–

(1) रायस्पोषदे (सं0पा0, 5/1)=रायस्पोषद इति रायस्पोष-दे (प0पा0)।

(2) विजावा (सं0पा0, 12/5)=विजावेति विजा-वा (प0पा0)।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 5/8 के अनुसार मतुप् प्रत्ययान्त पद तथा तद्धित् वत प्रत्ययान्त पद में अवग्रह हो जाता है। यदि व्याकरणशास्त्र के अनुसार सन्धि हुई हो।[4] उदाहरणार्थ–

(1) मधुमत् (सं0पा0, 13/36)=मधुमदितिमधु-मत् (प0पा0)।

---

1. सर्पदेवजनेभ्यश्च। वा0प्रा0, 5/4.
2. तृणवध्ममुत्तरेण, वा0प्रा0, 5/5.
3. रायस्योपदे विजावेति च, वा0प्रा0, 5/6.
4. तद्वति तद्धिते न्यायसंहितं चेत्। वा0प्रा0, 5/8.

(2) संवतम् (सं0पा0, 11/10)=संवतमिति सम-वतम् (प0पा0)।[1]

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 5/9 के अनुसार शम्, त्वम्, त्रा ताति इन तद्धितप्रत्ययान्त पदों में अवग्रह होता है।[2] उदाहरणार्थ-

(1) अतुशः (सं0पा0, 23/30)=अतुशः (सं0पा0, 23/30)।

(2) ऋतृशः इत्यृतु-शः (प0पा0)।

(3) देवत्वम् (सं0पा0, 31/17)=देवत्वमितिदेव-त्वम् (प0पा0)।

(4) देवत्रा (सं0पा0, 6/18)=देवत्राति देव-त्रा (प0पा0)।

(5) ज्येष्ठतातितम् (सं0पा0 7/11)=ज्येष्ठतातिमिति ज्येष्ठ-तातिम् (प0पा0)।

वा0प्रा0 5/10 के अनुसार धातु का अर्थ रखने वाले यकार के परवर्ती होने पर स्वरान्त प्रातिपदिक से अवग्रह हो जाता है।[3] उदाहरणार्थ-

(1) वृषायमाणः (सं0पा0, 20/39)=वृषायमाण इति वृष-यमाणः (प0पा0)।

(2) अघायतः (सं0पा0, 3/26)=अघयत इत्यघ-यतः (प0पा0)।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 5/11 के अनुसार भूतकाल के अर्थ का वाचक कृत प्रत्यय तम् (क्वम्) यदि ह्रस्व स्वर से बाद में हो और सम्प्रसारण द्वारा उष् न हुआ हो तो उसका अवग्रह हो जाता है।[4] उदाहरणार्थ-

---

1. भाष्यकारों ने उक्त विधान सूत्र के तद्वति शब्द के वति भाग की द्विरावृत्ति मानी है इसका अर्थ यत्वर्थीय प्रत्यय एवम् आवृत्त वति का अर्थ तद्धित वत् प्रत्यय कहा गया है तथा न्यायपद का अर्थ व्याकरण हुआ है। दोनों भाष्यकारों द्वारा जो तद्धित् वत् प्रत्ययान्त का उदाहरण संवतम् बतलाया गया है 'चिन्ताजनक है; क्योंकि वत् प्रत्ययान्त पद अव्यय होता है। उवट एवं महीधर ने भाष्य में संवतम् पद की व्युत्पत्ति 'वन्' धातु से की है।
2. शस्त्वन्त्रातातिषु च। वा0प्रा0, 5/9.
3. धात्वर्थे चकारे स्वरपूर्वे। वा0प्रा0, 5/10.
4. वासां च भूतकाले स्वरेण ह्रस्वादनुषि। वा0प्रा0, 5/11.

(1) जक्षिवांसः (सं0पा0, 8/19)=जक्षिवांस इति जाक्षि-वांसः (प0पा0)।

(2) पपिवांसः (सं0पा0,8/19)=पपिवांस इति पपि-वांसः (प0पा0)।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 5/12 के अनुसार 'था' प्रत्यय के परवर्ती होने पर प्रत्न, पूर्व, विश्व, इम, तथा चतु पदों से अवग्रह हो जाता है।[1] उदाहरणार्थ–

(1) प्रत्नथा (सं0पा0, 7/12)=प्रत्नथेति प्रत्न-था (प0पा0)।

(2) विश्वथा (सं0पा0, 7/12)=विश्वथेति विश्व-था (प0पा0)।

(3) इमथा (सं0पा0, 7/12)=इमथेति इम-था (प0पा0)।

(4) चतुथा (सं0पा0, 20/58)=चतु-था (प0पा0)।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 5/13 के अनुसार ह्रस्व एवं व्यञ्जन से बाद में आने वाली भकारादि विभक्ति (भिः, भ्याम्, भ्यः) का पृथक्करण होता है।[2] उदाहरणार्थ–

(1) तक्षभ्यः (सं0पा0, 16/27)=तक्षभ्य इति तक्ष-भ्यः (प0पा0)।

(2) तिष्ठद्भ्यः (सं0पा0,16/23)=तिष्ठद्भ्य इति तिष्ठद्-भ्यः (प0पा0)।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 5/14 के विधानानुसार ह्रस्व स्वर एवं व्यञ्जन से बाद वाले अविकारी (मर्धन्य विकाररहित) सप्तमी बहुवचन की सुविभक्ति का पृथक्करण होता है।[3] उदाहरणार्थ–

(1) अप्सु (सं0पा0, 12/31)=अप्स्वित्यप-सु (प0पा0)।

(2) हृत्सु (सं0पा0, 17/44)=हृत्स्विति हृत्-सु (प0पा0)।

---

1. प्रत्नपूर्वविश्वेमर्तुभ्यस्था। वा0प्रा0, 5/12.
2. ह्रस्वव्यञ्जनाभ्यां भकारांदौ विभक्तिप्रत्यये। वा0प्रा0, 5/13.
3. स्विति वानतौ। वा0प्रा0, 5/14.

   भाष्यकार उवट ने ह्रस्व स्वर व्यञ्जनाभ्यां की अनुवृत्ति यहां पर मानी है परन्तु दोनों ही भाष्यकार ह्रस्व से बाद वाले सु का उदाहरण नहीं दिये हैं।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 5/16 के अनुसार अनुदात्त उपसर्ग से बाद वाले आख्यात पद का पृथक्करण होता है।[1] उदाहरणार्थ–

(1) उपस्तृणन्ति (सं0पा0, 25/37) = उपस्तृणन्तीत्युप-स्तृणन्ति (प0पा0)।

(2) अवधावति (सं0पा0, 25/32)=अवधावतीत्यव-धावति (प0पा0)।

इन दोनों उदाहरणों में उप तथा अव उपसर्ग अनुदात्त है और उनसे बाद वाला क्रमशः स्तृणन्ति एवं धावति आख्यात पद है। अत एव प्रस्तुत नियम चरितार्थ होता है। वाजसनेयिप्रातिशाख्य 6/4 के भाष्य में यह स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि यदि आख्यात का पूर्व उपसर्ग उदात्त हो तो वह आख्यात से भिन्न स्वतन्त्र पद हो जाता है।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 5/17 के विधानानुसार त्र तथा श पद के परवर्ती होने पर पूर्ववर्ती गिरि पद का पृथक्करण हो जाता है।[2] उदाहणार्थ–

(1) गिरित्र (सं0पा0, 16/3)=गिरित्रेति गिरि-त्र (प0पा0)।

(2) गिरिश (सं0पा0, 16/4)=गिरिशेति गिरि-श (प0पा0)।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 5/18 के विधानानुसार इव, कार, अयन तथा आम्रेडित (द्विरुक्त) पदों के परवर्ती होने पर पूर्ववर्ती पद से पृथक्करण होता है।[3] उदाहरणार्थ–

(1) स्रुचीव (सं0पा0, 20/70)=स्रुचीवेति स्रुचि-इव (प0पा0)।[4]

(2) हिङ्काराय (सं0पा0, 22/7)=हिङ्कारायेति हिम्-काराय (प0पा0)।

(3) आयनाय (सं0पा0, 22/7)=आयनायेत्या-अयनाय (प0पा0)।

---

1. अनुदात्तोपसर्गे चाख्याते। वा0प्रा0, 5/16.
2. गिरित्रशयोः, वा0प्रा0, 5/17.
3. इवकाराम्रेडितायनेषु च। वा0प्रा0, 5/18.
4. वाजसनेयिप्रातिशाख्य के प्रस्तुत अवग्रह विधान से यह विदित होता है कि इसके सुत्रकार इट पद के साथ विभक्त्यलोपी समास को मानते हैं। अन्य व्याकरणशास्त्रीय ऐसा नहीं मानते।

(4) यज्ञायज्ञा (सं0पा0, 27/41) = यज्ञायज्ञेति यज्जा यज्मा (प0पा0)।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 5/19 के विधानानुसार एक पद से बाद वाले समीची पद में अवग्रह हो जाता है।[1] उदाहरणार्थ–

एकं समीची (सं0पा0, 12/2)=एकम्-समीची इति सम्-ईची (प0पा0)।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 5/20 के अनुसार त्वायवः, शयोः, बहिर्धा, अस्मयुम्, मृण्मयीम्, सुम्नया, साधुया, धृष्णुया, विशालम् और अनुया पदों में पृथक्करण होता है।[2] उदाहरणार्थ–

(1) त्वायवः (सं0पा0 20/78)=त्वायव इति त्वा-यवः (प0पा0)।

(2) शंयुयोः (सं0पा, 3/42)=शंयुयोरिति शम्-योः (प0पा0)।

(3) अस्मयुम् (सं0पा0, 11/11)=अस्मयुमित्यस्म-युम् (प0पा0)।

(4) मृण्मयीम् (सं0पा0, 11/56)=मृण्मयीमिति मृत-मयीम् (प0पा0)।

(5) सुम्नया (सं0पा0, 12/54)=सुम्नयेति सुम्न-या (प0पा0)।

(6) आशुया (सं0पा0, 13/9)=आशुयेत्याशु-या (प0पा0)।

(7) साधुया (सं0पा0, 14/1)=साधुयेति साधु-या (प0पा0)।

(8) धृणुया (सं0पा0, 27/37)=धृष्णुयेति धृष्णु-या (प0पा0)।

(9) विशालम् (सं0पा0 14/8)=विशालमिति वि-शालम् (प0पा0)।

(10) अनुया (सं0पा0, 15/6)=अनुयेत्यऽनु-या (प0पा0)।

---

1. एकात्समीची। वा0प्रा0, 5/19.

मन्त्र में 'समीची' पद के पूर्व एक पद की स्थिति आवश्यक है। परन्तु समास विवक्षित नहीं है। भाष्यकार अनन्त का मत है कि सूत्रोक्त एक पद को शब्द निर्देशार्थक मान लिया है। अतएव यह एक सर्वनाम पद नहीं है। एक पद पूर्व में न होने पर समीची पद का पृथक्करण नहीं होगा।

2. त्वायवः शंयोर्बहिर्द्धास्मयुं मृण्मयीं सुम्नयाशुया साधुया धृष्णुया विशालमनुया। वा0प्रा0, 5/20.

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 5/21 के अनुसार मृगयुम्, उभयादतः, उपा-मार्ग और किम्पुरुषम् ये पद आवग्रह किये जाने वाले हैं।[1] उदाहरणार्थ–

(1) मृगयुमिति मृग-युम् (वा0सं0, 30/7)

(2) उभयदत इत्युभय-दतः (वा0सं0, 31/7)

(3) उपामार्गेत्युप-मार्ग (वा0सं0, 35/11)

(4) किम्पुरुषमिति किम्-पुरुषम् (वा0सं0, 30/16)

उपर्युक्त चारों उदाहरणों में से पहले को छोड़कर शेष तीनों उदाहरणों में छान्दस दीर्घ हुआ है। अत एव उनके पद-पाठ में सर्वप्रथम छान्दस विकारी स्वरूप का पाठ करके तत्पश्चात् शुद्ध स्वरूप का सावग्रह पाठ होता है।

पद-पाठ सम्बन्धी नियम

वैदिक संहितागत उपलब्ध पद-पाठों में पूर्ण समानता नहीं है। प्रत्येक शाखागत पदपाठों में परस्पर भिन्नता है।

चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य दोनों में ही पदपाठ-विषयक विधान चर्चित है। चतुरध्यायिका के 106 सूत्रों के माध्यम से पदपाठ सम्बन्धी नियमों का विधान किया गया है जबकि वाजसनेयिप्रातिशाख्य में 20 सूत्रों के माध्यम से पदपाठ-सम्बन्धी नियमों का विधान किया गया है।

चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य में समानरूप से पद-पाठ के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है 'पदों के आदि, अन्त में स्थित वैदिक वर्णों के शुद्ध स्वरूप तथा पद के अर्थ-ज्ञान के लिए पद-पाठ का अध्ययन किया जाता है।"

दोनों ही प्रातिशाख्यों में पद-पाठ सम्बन्धी सामान्य नियमों का विधान किया गया है। चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य में प्रतिपादित पद-पाठ सम्बन्धी नियमों को छः भागों में विभाजित किया जा सकता है–

---

1. मृगयुमुभयादतोऽपामार्गकिम्पुरुषमिति च। वा0प्रा0, 5/21.

(1) दोनों ही प्रातिशाख्यों में पद विच्छेद सम्बन्धी नियमों का विधान किया गया है।

(2) इतिकरणसम्बन्धी नियम दोनों ही प्रातिशाख्यों में चर्चित है।

(3) दोनों ही प्रातिशाख्यों में स्वर सम्बन्धी नियम उल्लिखित है।

(4) चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य में समापत्ति सम्बन्धी नियम बतलाये गये है।

(5) पद-पाठ में पदों का स्वरूप दोनों ही प्रातिशाख्यों में चर्चित है।

(1) पदविच्छेद सम्बन्धी नियम

पद-पाठ में पद-विच्छेद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पद-पाठ करते समय समस्त पदों का पृथगुच्चारण करना होता है। एक पद के पश्चात् विराम होता है और तत्पश्चात् दूसरे पद का उच्चारण किया जाता है। इस प्रकार पद-पाठ में विराम और अवग्रह के यथानिर्धारित सङ्केत चिह्नों के द्वारा पद-विच्छेद किया जाता है।

चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य में विहित पद-विच्छेद के नियमों को 7 भागों में विभक्त किया जा सकता है–

क. आकार का विग्रह।

ख. क्रिया तथा उपसर्ग के समास में अवग्रह तथा विग्रह।

ग. आम्रेहित समास में अवग्रह तथा विग्रह।

घ. अन्य समासों में विग्रह।

ङ. प्रातिपदिक विभक्ति प्रत्यय में अवग्रह।

च. धातु तथा प्रत्यय में अवग्रह।

छ. कतिपय अन्य पदों में अवग्रह तथा विग्रह के अपवाद।

क. आकार का विग्रह– पद के मध्य में अपृवत आकार भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में सन्धि को प्राप्त हो जाता है। अत एव तत्तद् सन्दिग्ध स्थलों में आकार को पृथक् करने के लिए दोनों ही प्रातिशाख्यों में महत्त्वपूर्ण विधान किये गये है।

ख. क्रिया तथा उपसर्ग का समास में अवग्रह तथा विग्रह– क्रिया से उपसर्ग का जहां समास नहीं होता वहां उपसर्ग को विराम लगाकर पृथगुच्चारित किया जाता है। अर्थात् धातु से उपसर्ग का विग्रह किया जाता है। दोनों ही प्रातिशाख्यों में उपर्युक्त विधान चर्चित है।

ग. आम्रेडित समास में अवग्रह तथा विग्रह– सामान्य नियम के अनुसार पद-पाठ में अन्य समासों की भाँति दो पदों को अवग्रह द्वारा पृथक् किया जाता है। चतुरध्यायिका में आम्रेडित समास में पृथक्करण सम्बन्धी दो विधान किये गये है।[1] वाजसनेयि प्रातिशाख्य में अनेक सूत्रों के माध्यम से इस विषय पर प्रकाश डाला गया है।

घ. अन्य समासों में अवग्रह– क्रिया तथा उपसर्ग के समासों के अतिरिक्त अन्य समासों में भी पदों को अवग्रह द्वारा पृथक् करके दिखलाया जाता है। इस विषय पर चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य में दो तथा दो से अधिक पदों के समास में किये जाने वाले अवग्रह के लिए महत्त्वपूर्ण विधान किये गये हैं।

ङ. प्रातिपदिक तथा विभक्ति प्रत्यय में अवग्रह– चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य दोनों में ही प्रातिपदिक से जोड़े जाने वाले विभक्ति प्रत्यय को अवग्रह द्वारा पृथक् किया जाता है। चतुरध्यायिका में तीन नियमों का विधान किया गया है तथा दो अपवादों को प्रस्तुत किया गया है।

च. धातु तथा प्रत्यय में अवग्रह– दोनों ही प्रातिशाख्यों में धातु से जोड़े जाने वाले कृदन्त तथा तद्धित प्रत्ययों को अवग्रह द्वारा पृथक् करने के सम्बन्ध में विस्तार से विधान किया गया है।[2]

छ. कतिपय अन्य पदों में अवग्रह– वाजसनेयिप्रातिशाख्य के कतिपय सूत्रों में भिन्न-भिन्न पदों में दिखलाये जाने वाले अवग्रह के सम्बन्ध में चर्चा की है जबकि चतुरध्यायिका में इस प्रकार के विधानों का सर्वथा

---

1. काम्याम्रेडितयोः। अ0च0, 4.1.91, द्विरुक्ते चावगृह्ये। अ0च0, 4.1.97.
2. तद्धिते धा। त्राकारान्ते। अ0च0, 41.66-67.
धात्वर्थे यकारे स्वरपूर्वे। वा0प्रा0, 5/10.

अभाव है।

अवग्रह के अपवाद

चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयि प्रातिशाख्य दोनों में ही समास में अवग्रह सम्बन्धी सामान्य नियमों का प्रतिपादन किया गया है तथा अपवादों को भी प्रस्तुत किया गया है।

इतिकरण सम्बन्धी नियम

दोनों ही प्रातिशाख्यों में पृथक्-पृथक् सूत्रों के माध्यम से इतिकरण सम्बन्धी नियम चर्चित है जो इस प्रकार है–

1. चर्चा अर्थात् इति शब्द से बाद में पद की दुरुक्ति होने पर प्रगृह्य-संज्ञक पद इति से व्यवहित हो जाता है।
2. संहिता-पाठ में जिसका रेफ स्वरूप ज्ञात नहीं हुआ है वह रिफित पद भी इति से व्यवहित हो जाता है।
3. पद की द्विरुक्ति होने पर पद के मध्य में इति आ जाता है। द्विरुक्ति के स्थल ये है– क्रम-पाठ में कहीं गयी पदों की द्विरुचित पदपाठ में भी होती है, सु और अवसान पद को छोड़कर।

स्वरसम्बन्धी नियम

संहिता पाठ में पूर्ववर्ती तथा परवर्ती पदों के स्वर के प्रभाव से जो स्वर-विकार उत्पन्न होते हैं पद-पाठ में उनको हटा दिया जाता है। इसप्रकार पद-पाठ में प्रत्येक पद का अपना स्वर होता है। इस सन्दर्भ में चतुरध्यायिका में 4 नियमों का सूत्रों के द्वारा विधान किया गया हैं किन्तु वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में इसका अभाव है।

पदपाठ में समापत्ति

संहिता के निमित्त से पदों में होने वाले समस्त विकारों को हटाकर उनके मूल रूप को प्रस्तुत करना ही पद-पाठ का मुख्य सिद्धान्त है, जिसे समापत्ति शब्द से परिभाषित किया गया है। अतएव संहिता में होने वाले मूर्धन्यभाव विसर्जनीय विकार, लोप, दीर्घत्व हत्यादि विकारों को हटाकर

पद-पाठ में पदों की प्रकृति रूप दिखलाया जाता है। चतुरध्यायिका में प्रकृति दर्शन के लिए समापत्ति संज्ञा का प्रयोग किया गया है।[1] तथा विस्तार से समापत्ति स्थलों को प्रस्तुत किया गया है।[2] वाजसनेयिप्रातिशाख्य में समापत्ति संज्ञा का प्रयोग नहीं हुआ है। पद-पाठ तथा संहिता-पाठ में अपने समीपवर्ती पद के प्रभाव से पद विकृत हो जाते हैं और कभी-कभी उनके मूलरूप को पहचानना कठिन हो जाता है। अतः सन्देह निवारण के लिये वाजसनेयिप्रातिशाख्य पच्चीस सूत्रों (4/27-34, 152-162, 6/25-30) में संहिता के कतिपय सन्देहास्पद पदों के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। पद की साधुता के निश्चयन के लिये ये विधान किये गये है।

1. प्रकृतिदर्शनं समापत्तिः, अ0च0, 4.3.1-20.
2. पदान्तविकृतानाम्। अ0च0, 4.3.9.

पञ्चम अध्याय
क्रमपाठ-विचार

क्रम शब्द का अर्थ

संहिता आदि वैदिक ग्रन्थों में जहा क्रमपद आया है, वहां उसका पद-विच्छेद के साथ ही अर्थ प्राप्त होता हैं।[1] उदाहरण के लिए दशपूर्णमास याग में विष्णुक्रम का विधान हुआ है। विष्णुक्रम एक विशिष्ट क्रिया है, जिसमें यजमान मन्त्रपाठपूर्वक विष्णु की भावना से पैर बढ़ाता है।[2]

प्रस्तुत प्रकरण में पादविक्षेप क्रिया का अभिधेय अर्थ ग्रहण नहीं किया गया है अपितु लक्षणवृत्तिभाव सादृश्य को आधार मानकर क्रम शब्द का प्रयोग किया गया है। पादविक्षेप क्रिया में जिस प्रकार दो को एक जगह एक स्थिति में एक को उठा कर दूसरी जगह रखते हैं, पुनः आगे बढ़ते समय कुछ क्षण के लिए दोनों पैर मिलते हैं एक-दूसरे को पीछे छोड़ते हुए आगे बढ़ते रहते है उसी रूप में दो पदों को एक साथ पढ़ कर तत्पश्चात् पूर्वपद को छोड़ कर अगले पद के साथ सन्धि सहित पाठ करना ही क्रमपाठ कहा जाता है।[3]

क्रमपाठ में दो पदों का सन्धिसहित पाठ किया जाता है इसलिए पद तथा संहिता दोनों का ही स्वरूप क्रमपाठ में परिज्ञात होता है जबकि दो पदों के सन्धान में साधारणतया सन्धि के कारण पद-पाठ का पूर्णरूप सुरक्षित नहीं रह सकता तो भी सन्धि अथवा सन्धान के पहले की अवस्था

---

1. विष्णोः क्रमोऽसि। का0सं0, 12/5.
2. विष्णुक्रमान्क्रमते, का0ओ0, 3/8/10.
   विष्णुपादबुद्ध्या स्वपादस्य भूमौ प्रक्षेपा विष्णुक्रमाः। मा0सं0, 2/25 पर महीधर.
3. द्वे द्वे पदे सन्दधात्युत्तरेणोत्तरमावसानावपृक्तवर्जम्। वा0प्रा0, 4/183.

में पद का शुद्ध-रूप अध्येता को दृष्टिगोचर होता ही है। दीर्घीभाव विनाम आदि स्थलविशेष में तो मूलपद का स्वरूप क्रमपाठ में स्पष्टतया पढ़ा जाता है। अत एव क्रमपाठ को पद तथा संहिता पाठों का मध्यवर्ती पाठ कह सकते हैं। सङ्क्रम के विधान में वाजसनेयिप्रातिशाख्य में मूल संहितास्थ पाठ के अविकार के लिए सङ्क्रमणीय पद का भी पुनरुच्चारण का विधान हुआ है।[1] सं0पा0 के अवसानों का भी क्रमपाठ में निरूपण होता है।[2] शुक्ल यजुर्वेद की प्राप्त दोनों शाखाओं में 115 स्थलों में अवसान की सुरक्षा नहीं की जाती।[3] इनका संकलन आचार्य कात्यायन की रचना के रूप से प्रसिद्ध क्रमसन्धान शिक्षा ग्रन्थ में हुआ है। शुक्लयजुर्वेद में अवसान सुरक्षा न होने का मुख्य हेतु यजुष् मन्त्रों की बहुलता है। यजुष् मन्त्रों में पाद अथवा अर्द्धर्च का बन्धन नहीं होता। इसलिए यजुष्मन्त्रों के अवसान में नियमबद्धता नहीं है। यजुर्वेद में कहीं अनेक मन्त्र एक अवसान में पढ़े गये है।[4] तथा कहीं एक ही मन्त्र में मध्य में कई अवसान प्रदान किये गये हैं[5] एवं कहीं मन्त्रान्त में ही अवसान दिया गया है।[6] अन्य वेदों में विनियुक्त मन्त्र ही पूर्ण पढ़े जाते है इसलिये वहां अवसान की सुरक्षा में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

क्रम का अन्य अर्थों में प्रयोग

प्रातिशाख्य ग्रन्थों में क्रम शब्द का प्रयोग संयोग के अर्थ में भी किया गया है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य 1/104 में क्रम शब्द का अर्थ द्वित्व है,[7] परन्तु साधारणतया एक-दो स्थलों को छोड़कर अन्य सभी स्थलों में 'क्रम' शब्द क्रमपाठ हेतु ही विहित है।

---

1. अविकारार्थं च, वा0प्रा0, 4/180.
2. अवसानार्थं पुनर्ग्रहणम्। वा0प्रा0, 4/179, अवसाने च, वा0प्रा0, 4/196.
3. यथा समाम्नातं क्रमावसानं सङ्क्रमेषु, वा0प्रा0, 4/197.
4. तनार्द्धायां कण्डिकायां पञ्चमन्त्रा, मा0सं0, 1/1 महीधर.
5. मा0सं0, 16/64-66.
6. परादिनां पूर्वान्ते, का0ओ0, 1/3/9.
7. क्रमजं च, वा0प्रा0, 1/104.

क्रमपाठ का प्रयोजन एवम् उसका महत्त्व

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 4/182 में क्रमपाठ का विधान करते हुए आचार्य कात्यायन ने बतलाया है कि क्रमपाठ का प्रयोजन स्मृति है।[5] भाष्यकार अनन्त ने स्मृतिरूपी प्रयोजन भी क्रमपाठ के अन्य प्रयोजन के अन्तर्गत बतलाया है, वे प्रयोजन इसप्रकार है–

1. क्रमपाठ से दो-दो पदों की वर्ण संहिता और उदात्त आदि स्वरों की संहिता का ज्ञान होता है।
2. क्रमपाठ से संहिता के अवसानों का परिज्ञान होता है।
3. क्रमपाठ शिष्टों के बीच सम्मान प्रदायक होता है।
4. क्रमपाठ समादृत है, अतएव अध्ययन में विशेष पुण्यप्रद है।
5. व्याकरणशास्त्र में क्रमपाठ के अध्येता के लिए विशिष्ट सूत्र तथा 'वुनु' प्रत्यय के विधान से क्रमक संज्ञा का विधान किया गया है, जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि क्रमाध्यायी का समाज में विशिष्ट स्थान होता है।
6. 'सुनु' इत्याकारक प्रत्यय के विधान से यह भी ज्ञात होता है कि क्रमपाठ एक विशेष प्रकार का सिद्ध तत्त्व है।

प्रगाथ का स्वरूप

मन्त्रों के स्वरूप विशेष की संज्ञा प्रगाथ है। महीधराचार्य ने प्रगाथ का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि दो ऋचाओं से तीन ऋक् बना कर पढ़ना ही प्रगाथ है।[2] दो ऋचाओं को तीन ऋक् बनाने में कुछ पदों की दो बार आवृत्ति होती है। इन प्रगाथों का विनियोग यज्ञ कर्मों में होता है। माध्यन्दिनसंहिता में दो प्रगाथ हैं, जिनकी मूलभूत दो ऋचायें तथा उन पर निर्मित तीन ऋचाओं का प्रगाथ निम्नाङ्कित है–

---

1. क्रमः स्मृतिप्रयोजनः, वा0प्रा0, 4/182.
2. ऋग्द्वयग्रन्थनेन ऋच्त्रयसम्पादनं प्रगाथः। मा0सं0, 15/32 पर महीधर.

मूल ऋक्

1. एना वो अग्निं नभसोर्जोनपात माहवे।
   प्रियं चेतिष्ठमरतिं स्वध्वरं विश्वस्यदूतममृतम्।। 15/33

2. सयोजते स्त्रा विश्वमोजसा समद्रवत्स्वाहुतः।
   सुब्रह्मा यज्ञः सुशमी वसुनादेवं राधोजनानाम्।। 15/34

प्रस्तुत ऋचाओं में चार-चार पाद है। इन दो ऋचाओं के आठ पादों को बारह पाद अर्थात् तीन ऋचा बनाने हेतु चौथे एवं छठे पाद दो-दो बार अधिक आवृत्ति करके तीन ऋचा बन जाती है जिसका प्रगाथ स्वरूप पाठ शुक्लयजुर्वेद संहिता में इसप्रकार बतलाया गया है–

प्रगाथा

एना वो अग्निं नभसोजोनपातमाहुवे।
प्रियं चेतिष्ठमरतिं स्वध्वरं विश्वस्यदूतममृतम्।। 15/32

विश्वम्य दूतममृतं विश्वस्यदुतममृतम्।
न योजते अस्या विश्वमोजमा समुद्रवत्स्वाहुतः।। 15/33

समुद्रवत्स्वाहुतः समद्रवत्स्वाहुतः।
सुब्रह्मा यत्रः सुशमी वसुनां देव राधो जनानाम्।। 15/34

जहां पर दो ऋचाओं की पद संख्या विषम होती है वहां प्रगाथ बनाने का विधान भिन्न है। जैसे 15/38 के प्रगाथ की दो मूल ऋचा में पतली ऋचा तीन पाद वाली तथा चार पाद वाली होती है। इन सात पादों से तीन-तीन पाद की तीन ऋचा का एक प्रगाथ शुक्लयजुर्वेद को माध्यन्दिन संहिता में निम्नाङ्कित प्रकार से वर्णित है–

मूल ऋक्-

भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रारातिः सुभगमडो
अध्वरः भद्रा उतप्रशस्तयः।

भद्रमनः कृणुष्व वृत्रतूर्येर्यमा समत्सुसाहसः।
अवस्थिरा तमुहिभूरि र्सद्धताम् वनेमा ते अभिष्टिभिः।।

प्रगाथ-

भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रारातिः सुभगभद्रों अध्वरः।
भद्राउतप्रशस्तयः।। 15/38.

भद्रा उत प्रशस्तयो भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रदूर्ये।
येना समत्सु साहसः।। 15/39

येना समत्सु साहसो वस्थिरा तनुहि भूरि।
शर्धताम् वनेमा ते अभिष्टिभिः।। 15/39.

क्रमपाठ का अपूर्व फल बतलाते हुए या0शि0 में विधान किया गया है कि संहिता-पाठ से सूर्यलोक की प्राप्ति, पदपाठ से इन्द्रलोक को प्राप्ति और क्रमपाठ से अनामय तथा सूक्ष्म तत्त्व (ब्रह्मलोक) की प्राप्ति होती है।[1] इसके साथ ही संहिता तथा पदपाठ से क्रमशः यमुना एवं सरस्वती में स्नान करने के समान फल मिलता है, परन्तु क्रमपाठ से पतित पावनी जाह्नवी के स्नान का फल प्राप्त होता है,[2] यह ध्रुव सत्य है।

क्रमपाठ-निर्माण के नियम

क्रमपाठ के प्रमुख नियम इस प्रकार है–

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 4/183 में बतलाया गया है कि क्रम-पाठ में दो-दो पदों का सन्धान होता है। दो पदों में अन्तिम पद से दूसरे पद का सन्धान अवसान (अर्द्धर्च अथवा मन्त्र समाप्ति) पर्यन्त किया जाता है, अपृक्त (एकाक्षर) पद को छोड़ कर।[3]

अभिप्राय यह है कि–

(1) क्रमपाठ में दो-दो पदों की सन्धि की जाती है।

---

1. संहिता नयते सूर्यपदं च शशिनः पदम्।
   क्रमश्च नयते सूक्ष्मं यत् तत् पदमनामयम्।। या0शि0, पृ0 26.
2. कालिन्दी संहिता ज्ञेया पदमुक्ता सरस्वती।
   क्रमेणावर्त्तिता गङ्गा शम्भोर्वाणी तुनान्यथा।। या0शि0, पृ0 26.
3. द्वे द्वे पदे सन्दधात्युत्तरेणोत्तरमावसानादपृक्तवर्जम्। वा0प्रा0, 4/183.

(2) अर्द्धर्च के प्रारम्भ वाले दो पदों को प्रथम क्रमवर्ग के अन्तर्गत पढ़ा जाता है। तत्पश्चात् प्रथम क्रमवर्ग के अन्तिम पद से अग्रिमवर्ती (दूसरे) पद का सन्धान करके द्वितीय क्रमवर्ग बनाया जाता है तथा उसे पढ़ा जाता है।

(3) दो-दो पदों के सन्धान का यह क्रम मन्त्र के प्रथम पद से प्रारम्भ करके अवसान (विराम) तक चलता है।

(4) द्वितीय अर्द्धर्च के आरम्भ से पुनः दो-दो पदों के सन्धान का क्रम पूर्वोक्त प्रकार से क्रम वर्ग बनाते हुए चलता है।

उक्त तथ्यों की जानकारी के लिए संहिता, पद तथा क्रम इन तीनों पाठों को उदाहरण के रूप में बतलाया जा रहा है-

संहितापाठ- उप त्वाग्ने हविष्मतीर्घृताचीर्यन्तु ह्यर्यत् (सं0पा0, 3/4)

पदपाठ- उप । त्वा । अग्ने । हविष्मतीः । घृताचीः। यन्तु । ह्यर्यत्।

क्रमपाठ- उपत्वा। त्वाग्ने। अग्ने हविष्मतीः! हविष्मतीर्घृताचीः! घृताषीर्यन्तु! यन्तुह्युर्यत।

यहां पर क्रमपाठ में दो-दो पदों की सन्धि (मेल है) इसमें उपत्वा यह प्रथम क्रमपाठ हैं प्रथम क्रमवर्ग का उत्तरपद त्वा है जिसके आगे 'अग्ने' पद विद्यमान है। अतः विधानानुसार द्वितीय क्रम-वर्ग त्वाग्ने बनता है। इसप्रकार प्रत्येक क्रमवर्ग के प्रथम पद का त्याग करते हुए तथा परवर्ती पद के साथ सन्धि करते हुए दो-दो पदों का सन्धान अवसानपर्यन्त होता है। इस पाठ-प्रक्रिया को क्रमपाठ कहा जाता है। इसमें प्रत्येक पद का मूलरूप तथा दो पदों का संहितारूप स्पष्टतया परिज्ञात होता है। इसके निर्दिष्ट नियमों में अपृक्त पद का समावेश नहीं होता है। अतएव 'अपृक्त' पद के क्रमवर्ग बनाने के लिए सूत्रकार ने विशेष-विधान पृथक् रूप से किया है।

त्रिपदक्रमवर्ग विधान

साधारणतया दो-दो पदों का सन्धान क्रमपाठ में होता है, फिर भी विशिष्ट पदों के कारण कहीं-कहीं तीन पदों का सन्धान भी होता है,

जिसको त्रिपदक्रम कहते हैं। इस सन्दर्भ में वाजसनेयिप्रातिशाख्य 4/184 में बतलाया गया है कि मन्त्र में अपृक्त (आ अथवा उ वर्ण का) पद होने पर क्रम संहिता में उक्त अपृक्त पद को (दो पदों के) बीच में रख कर उसके पूर्व तथा पर के पदों के साथ सन्धि करके तीन पदों का क्रम करना चाहिए। उदाहरणार्थ–

(1) संहितापाठ– हंसानालभते वायवे। (सं0पा0, 24/22)
पदपाठ– हंसान् । आ। लभते। वायवे।
क्रमपाठ– हंसानालभते। आलभते। लभते वायवे।

(2) संहितापाठ– कर्मण आप्यायध्वमहन्याः (सं0पा0, 1/1)
पदपाठ– कर्मणा। आ। प्यायध्वम्। अहन्याः।
क्रमपाठ– कर्मण आप्यायद्ध्वम्। आ प्यावद्ध्वम्।प्यायद्ध्वमहन्याः।

उपर्युक्त उदाहरणों में अपृक्त आ पद को बीच में रख कर उससे पूर्व एवं परवर्ती पदों के साथ सन्धि होकर तीन पदों के सन्धान से एक क्रमवर्ग उत्पन्न हुआ है। इस आपदमध्य त्रिक्रम के बाद पुनः द्वितीय क्रमवर्ग में आ पदादि द्विपदक्रम आलभते एवम् आप्यायदध्वम् अग्रिम सूत्र 4/185 के विधानानुसार हुआ है।

यहाँ पर उल्लेखनीय है कि शुक्लयजुर्वेदीय वाजसनेयिशाखा की संहिताओं में दो ही अपृक्त पद आ तथा ऊ प्राप्त होते है। इन दोनों अपृक्त पदों के त्रिपद क्रम में कुछ विभिन्नता है। जहां 'आ' पद त्रिपद क्रम में सम्मिलित होने के बाद अगले द्विपद क्रमवर्ग में भी सम्मिलित हो जाता है।[2] वहां उ अपृक्त पद त्रिपद-क्रम में सम्मिलित होने के बाद पुनः अगले द्विपद क्रमवर्ग से सम्बद्ध नहीं होता। उदाहरणार्थ–

(अ) संहितापाठ– तमुत्वा दध्यङ् ऋषिः (सं0पा0, 11/19)
पदपाठ– तम्। ऊँ इत्यूं। त्वा। दध्यङ्। ऋषिः।
क्रमपाठ– तमुत्वा। ऊँ इत्यूं। त्वादध्यङ्। दध्यङ् ऋषिः।

---

1. अपृक्तमध्यानि त्रीणि स विक्रमः, वा0प्रा0, 4/184.
2. पुनराकारेणोत्तरम्। वा0प्रा0, 4/185.

(ब) संहितापाठ– उदुत्वा विश्वे (सं0पा0 11/27)
पदपाठ– उत्। ऊं ऽइत्यूं। त्वा। विश्वे।
क्रमपाठ– उदुत्वा। ऊं इत्यूं। त्वा विश्वे।

प्रस्तुत स्थल में पदपाठ में 'उ' अपृक्त पद का दीर्घ सानुनासिक रूप वेष्टकसहित पढ़ना वाजसनेयिप्रातिशाख्य 4/93-94 के विधानानुसार आवश्यक है। अतएव तीन पदों के क्रमवर्ग के पश्चात् अपृक्त 'उ' पद का वेष्टकीय रूप पढ़ा हुआ है। तत्पश्चात् 'उ' का त्याग करके उत्तरवर्ती पद 'त्वा' के साथ अग्रिम पद का सन्धान क्रमपाठ में किया गया है।

(3) वाजसनेयिप्रातिशाख्य 4/186 के विधानानुसार मोषूणः तथा अभिषुणः पदों का भी त्रिपद क्रमवर्ग हो जाता है।[1] उदाहरणार्थ–

(अ) संहितापाठ– मोषुण इन्द्र (सं0पा0, 3/45)
पदपाठ– मो इति मो। सु। नः। इन्द्रः।
क्रमपाठ– मोषूणः। मोइति मो। सु नः। नः इन्द्रः।

(ब) संहितापाठ– अभीषुणः सखीनाम्। (सं0पा0, 27/41)
पदपाठ– अभि। सु। नः। सखीनाम्।
क्रमपाठ– अभीषुणः। सुनः। नः। सखीनाम्।

प्रस्तुत (ब) उदाहरण में चार बातें ध्यान देने योग्य हैं–

1 मो (वा0प्रा0, 1/94 से) प्रगृह्य पद है। अत एव प्रगृह्य होने के कारण पदपाठ में (वा0प्रा0, 4/193 से) वेष्टक सहित पाठ होता है। क्रमपाठ में भी मो का सवेष्टकरूप सुरक्षित है।

2. मो पद से परवर्ती सुनः के सकार का मूर्धन्य हुआ है।

3. सुनः के सु को दीर्घ वाजसनेयिप्रातिशाख्य 3/108 के द्वारा हुआ है।

---

1. 'अ' उदाहरण में भी ये चारों बाते अवधेय है, भेद इतना ही है कि पहले 'अ' उदाहरण में सु को दीर्घ हुआ है जबकि द्वितीय उदाहरण में सांहितिक दीर्घ हुआ है।

4. मूर्धन्य षु के आधार से परवर्ती नः के नकार को णकार (वा0प्रा0 3/87 के द्वारा) हुआ है।

संहितोक्त इन चारों विशिष्टताओं की सुरक्षा क्रमपाठ में तभी सम्भव है जब तीन पदों का एक क्रम वर्ग बनाया जाय। अतः त्रिपदक्रम की सार्थकता होती है। त्रिपदक्रम अपृक्त पदमूलक एवं षत्वमूलक ही शुक्लयजुर्वेद में उपलब्ध होता है।

(4) वाजसनेयिप्रातिशाख्य 4/189 के विधानानुसार जहां सु पद की स्थिति से त्रिक्रम अथवा चतुःक्रम का विधान है वहां पुनः सु पद को प्रथमपद करके अगले पद से द्विपद सन्धान करना चाहिए।[1] उदाहरणार्थ–

संहितापाठ– मोषूण इन्द्र।
पदपाठ– मोइति मो । सु। नः। इन्द्र।
क्रमपाठ– मोषुणः। मोइति मो। सुनः। न इन्द्र।

उपर्युक्त विधानानुसार सुनः यह द्विपद क्रम निर्मित हो जाता है।

चतुःपदक्रम-वर्ग विधान

(5) वाजसनेयिप्रातिशाख्य में त्रिपदक्रम-वर्ग के पश्चात् चार पदों से क्रमवर्ग का विधान किया गया है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य 4/187 के विधानानुसार सु पद के पूर्व में अपृक्त पद तथा बाद में नकार होने पर क्रम संहिता में चार पदों का सन्धान होता है।[2] अर्थात् अपृक्त (उ)[3] पद सु नः होने पर (अपृक्त उ पद से पूर्व पद को लेकर) चार पदों का क्रम सन्धान होता है। उदाहरणार्थ–

(अ) संहितापाठ– उद्धर्व ऊषुण उतये (सं0पा0, 11/41)
पदपाठ– उद्धर्व। ऊं इत्यूं। सु । नः। उतये
क्रमपाठ– उद्धर्व। उषुणः। ऊँ इर्त्यु। सुनः।[4] न उतये।

---

1. पुनः सुपदेनोत्तरम्, वा0प्रा0, 4/189.
2. चत्वार्यपृक्तपूर्वे नकारपरे सो। वा0प्रा0, 4/187.
3. वा0प्रा0, 3/111 के विधान से संहितापाठ में अपृक्त उ का दीर्घ रूप मिलता है.
4. वा0प्रा0, 4/189 में द्विपद क्रम हुआ है.

(ब) संहितापाठ– एताद्दक्षाम ऊषुणः सदृक्षासः। (सं0पा0, 17/84)
पदपाठ– एतादृक्षामः। ऊँ इत्यूँ। सु नः। सदृक्षासः।
क्रमपाठ– एतादृक्षामाऊषुण। ऊँ इत्यूं। सु नः। नः सदृक्षासः।

(स) संहितापाठ– गोमदषुणासत्याश्वावत् (सं0पा0, 20/81)
पदपाठ– गोमदिति गो मत्। ऊँ इत्यूं। सु। नासत्या अश्वावत्। अश्ववदित्यश्व-वत्।
क्रमपाठ– गोमदषुवासत्या। गोमदिति गोमत्। ऊँ इत्यूँ। सुनासत्या। नासत्याश्वावत्।

चतुःपद क्रमवर्ग की आवश्यकता

प्रस्तुत तीनों उदाहरणों में यदि वाजसनेयिप्रतिशाख्य 4/184 के द्वारा अपृक्त उ पद को मध्य में रखकर पूर्व एवं परवर्ती पदों के साथ सन्धि करके त्रिपदक्रम– (अ) उद्धर्वऊषु, (ब) एतादृशास ऊषु, (स) गोमदुषु करने पर– षु पदमूलक पश्चादवर्ती नः पद के णत्व को बतलाना सम्भव नहीं होगा तथा इसी प्रकार क्रमपाठ के अन्यतम प्रयोजन- संहितागत सन्धि सुरक्षा की अवहेलना हो जायेगी। अतएव चतुःक्रम विधान से पूर्वपद अपृक्त उ पद तन्मूलक षत्व तथा णत्व सन्धि प्राप्त पदों का संहितागत स्वरूप सुरक्षित होकर प्रयोजन की सफलता हो जाती है।

(6) वाजसनेयिप्रातिशाख्य 4/188 के विधानानुसार कतिपय आचार्य सुपद से पूर्व में अपृक्त उ पद होने पर तथा बाद में मकार होने पर चार पदों के क्रमवर्ग की संयोजना करते है।[1] उदाहरणार्थ–

संहितापाठ– महीमुषु मातरं सुव्रतानाम् (सं0पा0 21/4)
पदपाठ– महीम्। ऊँ इत्यूं। सु। मातरम्। सुव्रतानाम्।
क्रमपाठ– महीमुषु मातरम्। ऊँ इत्यूं। सुमातरम्। मातरं सुव्रतानाम्।

भाष्यकार अनन्त ने इसको काण्व शाखीय आचार्यों का मत कहा है।[2]

---

1. मकारपरे चैके, वा0प्रा0, 4/188.
2. माध्यन्दिनानां त्रिक्रमत्वाम्, तेन इदं काण्वमतमिति गम्यते। वा0प्रा0, 4/188 पर अनन्त

माध्यन्दिन मतानुयायी आचार्यों के अनुसार यहां त्रिपदक्रम युक्त पाठ (महीमुषु। ऊँ इत्युं। सुमातरम्–) ही होता है। माध्यन्दिनशाखीय आचार्यों का तर्क है कि यहां चतुःक्रम करने की कोई सार्थकता नहीं है। नकारघटित उत्तरपद में तो णत्व संहिता का स्मरण रूप प्रयोजन था किन्तु यहां पूर्णतः पदमूलक कोई संस्कार मातरम् पद में चरितार्थ नहीं होता है। अतएव त्रिपद क्रमपाठ ही तर्कसंगत है।[1]

काण्व आचार्य उक्त स्थल में चतुःक्रम की सार्थकता में कोई प्रमाण उपन्यस्त नहीं करते परन्तु उनका आशय है कि अनादि सिद्ध वैदिक सम्प्रदाय में ऐसा पाठ है तथा प्रातिशाख्य में ऐसा विधान भी उपलब्ध है। अतएव वचनत्वात् चतुःक्रम करना चाहिए।[2]

पञ्चपदक्रम वर्ग

माध्यन्दिन एवं काण्व शाखा में पञ्चपदक्रम का कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं होता है। अतएव वाजसनेयिप्रातिशाख्य में इससे सम्बन्धित कोई विधान नहीं है।

क्रमपाठ में स्थितोपस्थित

जब किसी मूल पद को द्विरावृत्त करके इतिकरण पाठ किया जाता है तब उसे स्थितोपस्थित पाठ कहते है।[3] पदपाठ में स्थितोपस्थित शैली से पद का उच्चारण किया जाता है। पदपाठीय स्थितोपस्थित पद का क्रमसंहिता में किस प्रकार समावेश करना चाहिए इसके लिए वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में कुछ विधान किये गये हैं, जो इस प्रकार है–

---

1. मकारपर इति जघन्यश्चायमैकीयः पक्षः। यतः चतुःक्रमेषु सर्वेषु पूर्वो भावी उत्तरं सुपदं ततो नकारादिपदम्।– तत्र उकारो भावी सुपदस्य उत्वे निमित्तम्। सुपदे षत्वं नकारापद णत्वे निमित्तम् न च कश्चिदिह सुशव्यं विना मकारादेः पदस्य विकारः सम्भवति। अतस्त्रिक्रम एवायम्। वा0प्रा0, 4/188 पर उवट.
2. यद्वचनवाचनिकमिति न्यायात्, न तु सृष्टिः कार्येति काण्वाशय इतिविवेकः। वा0प्रा0, 4/188 पर अनन्त.
3. उपस्थिते सेतिकारं केवलं तु पदं स्थितम्।
   तत् स्थितोपस्थितं नाम यत्रोभे आह संहिते।। वा0प्रा0, 10/12-14.

(1) वाजसनेयिप्रातिशाख्य 4/190 के विधानानुसार अवग्रह योग्य (=वेष्टक) पूर्व पद का स्थितोपस्थित रूप उत्तर पद सन्धान के बाद पढ़ना चाहिए।[1] तात्पर्य यह है कि वेष्टक पद का तदुत्तरवर्ती पद के साथ सन्धान हो जाने के बाद क्रमसंहिता में अवगृह्य पद का स्थितोपस्थित रूप (उस पद को छोड़ते समय) पढ़ा जाना चाहिए। उदाहरणार्थ–

(अ) संहितापाठ– श्रेष्ठतमाय कर्मणे आप्यायध्वम् (सं0पा0, 1/1)
पदपाठ– श्रेष्ठतमायेतिश्रेष्ठ-तमाय। कर्मणे। आ। अप्यायध्वम्।
क्रमपाठ– श्रेष्ठतमायकर्मणे। श्रेष्ठतमायेति श्रेष्ठ-तमाय। कर्मण आप्यायध्वम्।

(ब) संहितापाठ– उपप्रयतो अध्वरम्मन्त्रम् (सं0पा0, 3/11)
पदपाठ– उप प्रयन्त इत्युप-प्रयन्तः। अध्वरम्। मन्त्रम्।
क्रमपाठ–उपप्रयन्तो अध्वरम्। उपप्रयन्त इत्युप-प्रयन्तः। अध्वरमन्त्रम्।

प्रस्तुत दोनों स्थलों में क्रमशः श्रेष्ठतमाय तथा उपप्रयन्त अवगृह्य पद प्रयुक्त हैं। उक्त नियमानुसार क्रमपाठ में इनका अग्रिम पद के साथ सन्धान कर क्रम वर्ग को पढ़ा गया है। तत्पश्चात् अवगृह्य पद क़ा स्थितोपस्थित पाठ किया गया है।

(2) वाजसनेयिप्रातिशाख्य 4/191 में आचार्य शाकटायन के मत से सु (षु) पद युक्त विक्रम अपना चतुः क्र म होने पर सु- पद क़ा स्थितोपस्थित पाठ- (=वेष्टक) करना चाहिए।[2] उदाहरणार्थ–

(अ) संहितापाठ–मोषुण इन्द्रात्र (सं0पा0, 3/45)
पदपाठ– मो इति मो। सु। नः। इन्द्र। अत्र।
क्रमपाठ– मोषुणः। मोइति मो। स्वितिसु। सुनः।

(ब) संहितापाठ– गोमदूषुणासत्या (सं0पा0, 20/81)
पदपाठ– गोमदिति गोमत्। ऊँ इत्यूं। सु। नासत्या।
क्रमपाठ– गोमदूषुणासत्या। गोमदिति गो। मत्। ऊँ इत्यूं। स्वितिसु

---

1. पूर्वस्योत्तरसंहितस्य स्थितोपस्थितमवगृह्यस्य। वा0प्रा0, 4/190.
2. सुपदे शाकटायनः वा0प्रा0, 4/191.

नासत्या।

सु पद के स्थितोपस्थित पाठ का यह मत माध्यन्दिनीय तथा काण्व दोनों शाखाओं में परम्परागत नहीं है। इसलिए काण्वशाखीय आचार्य अनन्त ने कहा है कि वेष्टक के बिना भी सुपद का स्वरूप स्पष्ट रूप से प्रतीत हो जाता है। अतएव शाकटायन का यह मत ठीक नहीं है। यद्यपि शाकटानाचार्य क़ाण्वशाखीय है परन्तु उनका यह मत काण्व शाखा में समादृत नहीं है। यदि काण्वशाखीय मतावलम्बियों के लिए यह होता तो इस 4/191 सूत्र को काण्व मताभिश्राक मकारपरे (4/188) सूत्र के अनन्तर पढ़ा गया होता। अत एव ये आचार्य शाकटायन भिन्न शाखीय हैं।[1] अथवा इस सूत्र में शाकटायन पद का अकार पूर्ण रूप से प्रश्लिष्ट हो गया है। ऐसा करने से काण्वों के लिए यह मत नहीं रहेगा।[2]

(3) वाजसनेयिप्रातिशाख्य 4/192 के अनुसार समानपदीय दीर्घीभाव के स्थलों में भी स्थितोपस्थित पाठ क्रमसंहिता में करना चाहिए।[3] वाजसनेयिप्रातिशाख्य के तीसरे अध्याय में जिन पदों में पद के मध्यगत दीर्घीभाव का विधान किया गया है, उन्हें ही अन्तःपद दीर्घीभाव शब्द के द्वारा व्यवहृत किया गया है। अन्तःपद दीर्घीभाव वाले पदों का जब अगले पद के साथ सन्धान होकर क्रमवर्ग पठित हो जाय तब उस (अन्तःपद दीर्घीभावयुक्त) पद का स्थितोपस्थित पाठ करना चाहिए। उदाहरणार्थ–

(अ) संहितापाठ– मामहन्तामदितिः सिन्धुः (सं0पा0, 33/42)

---

1. एतच्च वेष्टनं पदस्वरूपज्ञापनार्थम् विनापिष्टकेन पदस्वरूपं ज्ञायत एवेति शाकटायनमतं न साधु। शाकटायन इति किम्? काण्वमाध्यन्दिनानां मा भूदिति। यदि काण्वमात्रविषयं स्यात् तदा मकारपरे चैके इति सुपदानन्तरमैतदसूयं पठेत्। तस्मादयवधानात् शाकटायनग्रहणाच्च शाखान्तरविषयमित्यवधेयम्। वा0प्रा0, 4/191 पर अनन्त.
2. यद्वा सुपदे शाकटायनं इति प्रश्लेषेण सूर्य व्याख्यायन्ते नेदं काण्वमतमिति। वा0प्रा0, 4/191 पर अनन्त.
3. अन्तः पददीर्घीभावे। वा0प्रा0 4/192.

पदपाठ– मामहन्ताम्। ममहन्तामिति ममहन्ताम्। अदितिः। सिन्धुः।
क्रमपाठ– मामहन्तामदितिः। ममहन्तामिति ममहन्ताम् । अदितिः सिन्धुः।

(ब) संहितापाठ– सादन्यं विदर्थ्य समेयम् (सं0पा0, 34/21)
पदपाठ– सादन्यम्। सदन्यमिति सदन्यम्। विदर्थ्य। समेयम्।
क्रमपाठ– सादन्यं विदथ्यम्। सदन्यमिति सदन्यम्। विदर्थ्य समेयम्।

प्रस्तुत उदाहरणों में मामहन्ताम् तथा सादन्यम् अन्तःपद दीर्घीभावयुक्त पद है। अन्तःपद दीर्घीभाव होने से प्रस्तुत विधान से क्रमपाठ में उत्तरवर्ती पद सन्धान के अनन्तर इनका स्थितोपस्थित पाठ प्राप्त होता हैं परन्तु स्थितोपस्थित पाठ में मामहन्ताम् तथा सादन्यम् इन दोनों पदों का अन्तःदीर्घ वाजसनेयिप्रातिशाख्य 3/23 के विधान से वेष्टक में वर्जित है। अतः प्रथमतः सदीर्घपाठ होकर फिर वेष्टक में अदीर्घ पाठ हुआ है।

(4) वाजसनेयिप्रातिशाख्य 4/193 के अनुसार विनाम अर्थात् एकपदगत छान्दस् मूर्धन्यभाव के स्थलों में पूर्वोत्तर पदसन्धान के अनन्तर पूर्व (विनाम विकार प्राप्त पद) का स्थितोपस्थित पाठ हो जाता है।[1] उदाहरणार्थ–

(अ) संहितापाठ– सिवासन्तो वनामहे (सं0पा0 26/17)
पदपाठ– सिवासन्तः। सिसासन्त इति सिसासन्तः। वनामहे।
क्रमपाठ– सिसासन्तो वनामहे। सिसासन्त इति सिसासन्तः वनामहे।

(ब) संहितापाठ– सुथाव सोममद्रिभिः (सं0पा0, 19/2)
पदपाठ– सुषाव। सुसावेति सुसाव। सोमम्। अद्रिभिः।
क्रमपाठ– सुषाव सोमम्। सुसावेति सुसाव। सोममद्रिभिः।

प्रस्तुत उदाहरणों में क्रमशः सिसासन्तः तथा सुषाव विनाम पद हैं। अतएव उनका स्थितोपस्थित पाठ हुआ है।

1क. विनामशब्देन द्वन्द्वयस्य मूर्धन्यभावमन्वते। विमाभ्यचैव इत्यम्भूतीगृह्यते। यत्र निमित्तनेमित्तिकावेकपटस्थां भवतः। वा0प्रा0, 4/193 पर उवट.

1ख. विनामे, वा0प्रा0, 4/193

यहां यह जानने योग्य है कि विनाम (एक पदगत छान्द् दन्त्यवर्ण का मूर्धन्यभाव) के अन्तर्गत षत्व तथा णत्व दोनों आ जाते हैं। भाष्यकारों ने यहाँ केवल उषत्वरूप विनाम के ही उदाहरण उद्धृत किये हैं तथा णत्व की कोई चर्चा नहीं की है जबकि णत्व भी विनाम है और इसके उदाहरण भी संहिता ग्रन्थ में उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ–

संहितापाठ– रथवाहणं हविरस्य। (सं0पा0, 29/45)
पदपाठ– रथवाहणम्। रथवाहनमिति रथ-वाहनम्। हविः। अस्य।
क्रमपाठ– रथवाहणं हविः। रथवाहनमितिरथ-वाहनम्। हविरस्य।

(5) वाजसनेयिप्रातिशाख्य 4/194 के अनुसार प्रगृह्य संज्ञक पदों का क्रमपाठ में पूर्वोत्तर पद सन्धान के अनन्तर स्थितोपस्थित पाठ करना चाहिए।[1]

(अ) संहितापाठ– अन्तस्ते द्यावापृथिवी (सं0पा0 7/5)
पदपाठ– अन्तरित्यतः। ते। द्यावापृथिवी इति द्यावापृथिवी।
क्रमपाठ– अन्तस्ते। अन्तरित्यन्तः। ते द्यावापृथिवी।

(ब) संहितापाठ– नेष्टः पिब सतुना (सं0पा0, 26/20)
पदपाठ– नेष्टरिति नेष्टः। पिब। सतुना।
क्रमपाठ– नेष्टः पिब। नेष्टरिति नेष्टः। पिब सतुना।

प्रस्तुत स्थल में अन्तः तथा नेष्टः अनिरुक्त रिफित पद हैं। क्योंकि संहितापाठ में पहले उदाहरण का विसर्ग सकारापन्न है एवं दूसरे उदाहरण यह अनिरुक्त रिफित पद क्रमपाठ में पूर्वोत्तर पदसन्धान के अनन्तर स्थितोपस्थित रूप में पठित है।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 4/96 के विधानानुसार अवसान (विराम) स्थलों में अन्तिम पद का स्थितोपस्थित पाठ करना चाहिए।[2] उदाहरणार्थ–

संहितापाठ– अग्नये जातवेदसे (सं0पा0, 3/2)

---

1. प्रगृह्ये, वा0प्रा0, 4/194.
2. अवसाने च, वा0प्रा0, 4/196.

पदपाठ– अग्नये। जातवेदस इति जात-वेदसे।

क्रमपाठ– अग्नये जातवेदसे। जातवेदस इति जात-वेदसे।

प्रस्तुत संहिता मन्त्र के अवसान में जावेदसे पद विद्यमान है। अतएव विधानानुसार जातवेदसे पद पूर्व के साथ सन्धान प्राप्त करता है, तत्पश्चात् उसका स्थितोपस्थित पाठ होता है।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य में सूत्रकार कात्यायन ने अवसान की कोई परिभाषा नहीं दी है, परन्तु पाणिनिय द्वारा जो परिभाषा दी गयी है वह सभी प्रातिशाख्यों में मान्य है और आचार्य उवट तथा अनन्त ने उसी व्याख्या का अनुसरण किया है।[1] पाणिनिय मत से वर्णों के अभाव को विराम अथवा अवसान कहते हैं।[2]

अवसान होने के पश्चात् अग्रिम पद से पूर्व पद की सन्धि नहीं होती है क्योंकि संहिता का अवसान के कारण भङ्ग हो जाता है। संहिताग्रन्थ में अवसान जिस पद पर होता है, वह पद अथवा अक्षर भी अवसान कहा जाता है। संहिता में दो तरह के अवसान प्राप्त होते हैं– (1) मन्त्रान्त अथवा कण्डिकान्त, (2) मन्त्र के मध्य मध्यावसान किसी-किसी मन्त्र में पद के बाद होते है।[3] इन सब अवसानों के पदों का क्रमपाठ में वेष्टक होता है। क्रमपाठ में अवसान पदों के स्थितोपस्थित पाठ का लक्ष्य संहिता के अवसानों का ज्ञापन तथा उनकी स्मृति बनाए रखना है।[4] यहां यह जानने योग्य है कि एक ही मन्त्र दो शाखाओं की संहिताओं में पठित होने पर उसमें अवसान शाखानुसारी भिन्न-भिन्न हो सकता है। अध्येतागण को क्रम-पाठ के लिए स्वशाखानुसारी अवसान मानना पड़ता है।

अवसान में क्रमसन्धान

संहितागत अवसानों का ज्ञापन क्रमपाठ में वेष्टक द्वारा किया जाता है। अतः वाजसनेयिप्रातिशाख्य 4/196 सूत्र में अवसानगत पदों का क्रमपाठ

1. समाप्तौ च अर्धर्चादौ, वा0प्रा0, 1/91 पर उवट एवं अनन्त.
2. विरामोऽवसानम्, पा0 1/4/110.
3. मा0सं0, 37/8,9.
4. संहितावसानज्ञापनार्थम्। वा0प्रा0, 4/16 पर उवट.

में स्थितोपस्थित पाठ का विधान हुआ है। परन्तु इसका अपवाद भी प्राप्त होता है। इसी का संकेत वाजसनेयिप्रातिशाख्य 4/197 द्वारा इस प्रकार हुआ है– संहितावसान के स्थलों में जहां क्रमपाठ का आख्यान नहीं होता, अपितु अवसान से अग्रिम पद के साथ सन्धि (सङ्क्रम) होकर पदपाठ का नैरन्तर्य बना रहता है, ऐसे स्थलों में क्रमसंहिता का विराम समाम्नाय (क्रमसन्धान शिक्षासूत्र) के अनुसार किया जाता है।[1]

अभिप्राय यह है कि क्रमपाठ का भी अवसान अर्थात् अवसानगत अन्तिम पद के वेष्टक द्वारा क्रम सन्धान की समाप्ति हो जाती है, किन्तु कभी-कभी संहितापाठ के अवसान में क्रमपाठ का अवसान न करके अवसान पद का अगले अंश के प्रथम पद के साथ सन्धान करके क्रमपाठ का क्रम बना रहता है। इसीलिए अवसान पद में क्रमपाठ का अवसान (विराम) नहीं किया गया। अतएव अवसान पद में क्रमपाठ का अवसान नहीं किया गया। अतः अवसान पद का वेष्टन भी नहीं किया जाता है। ऐसे अवसान पदसन्धान के स्थल अल्पसंख्यक है तथा परम्परा से क्रमागत हैं जिससे अध्येता को ज्ञात हो जाता है या क्रमसन्धान सूत्र (आचार्य कात्यायन द्वारा रचित ग्रन्थ) से जान लिया जाता है। क्रमसन्धान सूत्र में पूरे वाजसनेयिसंहिता के 115 क्रमसन्धान परिगणित है। ऐसे अवसान पदों के अग्रिम पद के साथ सन्धान को सूत्रकार ने सङ्क्रम शब्द से ही संकेतित किया है। भाष्यकार उवट के मत से अवसान में जो सन्धि करना है, वह सङ्क्रम है। उदाहरणार्थ–

संहितापाठ– यज्ञपतिर्हवार्षीत् (सं0पा0, 1/2)।
वसोः पवित्रमसि शतधारम् (सं0पा0, 1/3)।

पदपाठ– यज्ञपतिरिति यज्ञ-पतिः। हवार्षीत्।।2।।
शतधारमिति शत धारम्।।3।।

क्रमपाठ– यज्ञपतिर्हवार्सीत् । यज्ञपतिरिति यज्ञ-पतिः।
हवार्सीत्धारम्।

प्रस्तुत उदाहरण में संहिता पाठ (1/2) के अवसान की सुरक्षा क्रमपाठ

---

1. तथासमाम्नातं क्रमावसानं सङ्क्रमेषु। वा0प्रा0, 4/197.

में नहीं की गयी है, अपितु उक्त 4/197 के विधानानुसार क्रमपाठ में अवसान के बाद वाले अगलत्पद का सन्धान करके निरन्तरता स्थित की गयी है।[1]

यह वक्तव्य है कि वाजसनेयिप्रातिशाख्य के भाष्यकार अनन्त भट्ट ने सङ्क्रम का अर्थ अवसान से सन्धि यह नहीं किया है, परन्तु गलत्पद को छोड़कर अगलत्पद के साथ सन्धान सङ्क्रम है- यह किया है। भाष्यकार द्वारा उक्त लक्षण सभी स्थलों में घटित नहीं होता। दोनों ही भाष्यकारों ने ऐसे उदाहरण अवश्य दिये है जहां अवसानीय गलत्पदों का अतिक्रम करके अगत्यत्पद से सन्धान हुआ है। उदाहरणार्थ-

संहितापाठ- इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्वस्यारिष्टये यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईहितः। मित्रावरुणो त्वोत्तरतः परिधत्तांध्रुवेण धर्मणा विश्वस्यारिष्टये यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः (सं0पा0 2/3)।

पदपाठ- इन्द्रस्य। बाहुः। असि। दक्षिणः।। मित्रावरुणो। त्वा। उत्तरतः। परि। धत्ताम्। ध्रुवेण। धर्मणा।

क्रमपाठ- इन्द्रस्य बाहुः। बाहुरसि। असि दक्षिणः। दक्षिणो मित्रावरुणः। मित्रावरुणो त्वा। त्वोत्तरतः। उत्तरतः परि। परिधत्ताम्। धत्ता। ध्रुवेण ध्रुवेणधर्मणा। धर्मणेति धर्मणा।।

यहां पर (1) पूर्वार्द्ध में दक्षिणः से आगे गलत्पद है अत एव पदपाठ में अपठित है। (2) संहितापाठ में ईडितः (पूर्वार्द्ध) पर मध्यविराम है। (3) अन्तिमार्ध में धर्मणा पद से आगे वाले पद गलत्पद हैं। अतः पदपाठ में पुनः अपठित हैं। अत एव क्रमपाठ में संहिता के मध्य में अवसान की उपेक्षा करके धर्मणा पदपर्यन्त क्रमवर्ग का संयोजन किया गया है, जिससे धर्मणा के आगे वाले पद पुनः गलत्पद है। फलतः धर्मणा पद का स्थितोपस्थित पाठकर क्रम संहिता की समाप्ति कर दी गयी है। उपर्युक्त उदाहरण में संहितापाठ के मध्यावसान का उल्लेख न करके क्रमसन्धान करने का विधान क्रमसन्धानसूत्र में किया गया है।

शुक्लयजुर्वेद को छोड़कर इस प्रकार का अवसान में क्रमसन्धान

---

1. अवसाने सन्धिः सङ्क्रम इत्युच्यते, वा0प्रा0, 4/197 पर उवट.

एवं गलत्पदों का सर्वथा पाठनपाठ अन्य वेदों के पदपाठ में नहीं है। अत एव शुक्लयजुर्वेद की दोनों शाखाओं के पदपाठ तथा क्रमपाठ में बहुत सावधानी एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य के विधानों के पालन की विशेष अपेक्षा रहती है। वाजसनेयिप्रातिशाख्य के क्रमसन्धान का यह विवेचन सर्वथा मौलिक है।

क्रमपाठ में परिग्रह

वाजसनेयिप्रातिशाख्य में सूत्रकार तथा भाष्यकारों ने परिग्रह पद का न तो प्रयोग किया और न ही उसका लक्षण तथा अर्थ बतलाया है। परन्तु वाजसनेयिप्रातिशाख्य के सातवें अध्याय के दूसरे सूत्र में 'परिगृह्णीयात्' में इस पद के प्रयोग के कारण परिग्रह शब्द सम्प्रदाय में प्रसिद्ध तथा प्रचलित है। अवसान (अर्थात् मन्त्र के मध्य अथवा अन्त में सम्प्रदायसिद्ध विराम) के पद का वाजसनेयिप्रातिशाख्य 4/196 से स्थितोपस्थित (सवेष्टक) पाठ करने का विधान है। यही कारण है कि सूत्रकार ने परिग्रह के विधान के पूर्व अवसान का विधान किया है।[1] अवसान में विद्यमान पद के वेष्टक में उसे अन्तिम वर्ण की इति पद के इकार के साथ जो सन्धि होती है, उसे भी लक्षणानुसार परिग्रह माना है।[2] यह वाजसनेयिप्रातिशाख्य के सातवें अध्याय के सूत्र तथा काव्यानुशीलन से ज्ञात होता है। परिग्रह का विधान अर्थात् वेष्टक में प्रथम पठित पदान्तीय वर्ण के साथ इति की सन्धि किस प्रकार की होनी चाहिए इसका विधान वाजसनेयिप्रातिशाख्य के सातवें अध्याय में हुआ है। ये नियम साधारण रूप से पदपाठ के स्थितोपस्थित रूप में भी चरितार्थ होते हैं। ये नियम इस प्रकार हैं–

1. प्लुत अकार को छोड़कर ह्रस्व तथा दीर्घ अकारान्त पदों में पूर्व पदान्तीय अकार और आकार का उत्सर्ग पदादि इति के इकार के साथ सन्धि में एकार परग्रिह हो जाता है।[3] उदाहरणार्थ–

---

1. अथावसानानि, वा0प्रा0, 7/1.
2. पदान्तस्येति करणस्यादेश्च यः सन्धिः स उच्यत इति यावत्। वा0प्रा0, 7/1 पर उवट.
3. काण्डपस्वरमेकारेण परिगृह्णीयात् प्लुतवर्जम्। वा0प्रा0, 7/2.

(क) पञ्च (प0पा0, 1/9) पञ्चेति पञ्च (क्रमपाठ)।

(ख) विपन्यया (प0पा0, 33/9) विपन्ययेति विपन्यया (क्र0पा0)।

2. वाजसनेयिप्रातिशाख्य 7/3 के अनुसार ह्रस्व दीर्घ इकारान्त पद का इति के साथ ईकार से परिग्रह किया जाता है।[1] उदाहरणार्थ–

(क) पाहि (प0पा0, 1/1)=पाहीति पाहि (क्र0पा0)।

(ख). सुनूतावती (पा0पा0 7/10)=सुनृतावतीति सुनृतावती (क्र0पा0)।

3. वाजसनेयिप्रातिशाख्य 7/4 के अनुसार उकारान्त पद का इति के साथ वकार से परिग्रह होता है।[2] उदाहरणार्थ–

सन्तु (प0पा0, 33/12)=सन्त्विति सन्तु (क्र0पा0)।

(4) वाजसनेयिप्रातिशाख्य 7/5 के अनुसार औकारान्त पद का इति के साथ वकार से परिग्रह किया जाता है।[3] उदाहरणार्थ– असौ (प0पा0,= असावित्यसौ (क्र0पा0) यह माध्यन्दिन शाखा का विधान है।

(5) वाजसनेयिप्रातिशाख्य 7/6 के अनुसार ह्रस्व अकार उपधा वाले अरिफित विसर्जनीयान्त पद का इति के साथ विवृत्ति से परिग्रह होता है।[4] उदाहरणार्थ–

ईड्यः (प0पा0, 3/15) = ईड्य इतीड्यः (क्र0पा0)।

6. वाजसनेयिप्रातिशाख्य 7/7 के अनुसार दीर्घ अकारोपध विसर्जनीयान्त एकारान्त, ऐकारान्त प्लुतान्त एवं प्रगृह्य पदों में इति सहिंत विवृत्ति से परिग्रह हो जाता है।[5] उदाहरणार्थ–

(1) अरोचया (प0पा0, 3/14) अरोचया इत्यरोचयाः (क्र0पा0)।

---

1. इवर्णमीकारेण, वा0प्रा0, 7/3.
2. उवर्णकारेण, वा0प्रा0, 7/4.
3. वकारं च, वा0प्रा0, 7/5.
4. ह्रस्वकारोपधविसर्जनीयान्तमरिफित विवृत्या। वा0प्रा0, 7/6.
5. दीर्घकण्ठ्योपधं विसर्जनीयान्तमेकारान्तमैकारान्तं प्लुते प्रगृह्या च। वा0प्रा0, 7/7.

(2) अग्नये (प0पा0, 3/1)=अग्नय इत्यग्नये (क्र0पा0)।

(3) मादयध्यै (प0पा0, 3/13)=मादयध्या इति मादयध्ये (क्र0पा0)।

(4) विवेशा 3 (प0पा0, 23/49)=विवेशा3 इति विवेशा3 (क्र0पा0।

(5) धापयेते (प0पा, 33/5)=धापयेत इति धापयेते (क्र0पा0)।

प्रस्तुत उदाहरणों में सन्धिविधानुसार प्रथम तीन में क्रमशः विसर्जनीय का लोप तथा ए, ऐ को अय् तथा आय् भाव होकर यकार का लोप हुआ है। चौथा उदाहरण लुतान्त पद में वाजसनेयिप्रातिशाख्य 4/92 से तथा प्रगृह्य पद में 4/88 से सन्धि का निषेध हुआ है।

7. वाजसनेयिप्रातिशाख्य 7/8 के विधानानुसार कुछ आचार्यों के मत से औकारान्त पद का इति के साथ विवृत्ति से परिग्रह हो जाता है।[1] उदाहरणार्थ–

असौ (काण्व प0पा0, 9/30)=असा इत्यसौ (क्रमपाठ)।

पूर्ववर्ती सूत्र 8/5 में ओकार का वकार से परिग्रह करने का नियम माध्यन्दिनीय शाखा के लिए किया गया था।

यहाँ पर सूत्रगत एक पद को काण्वशाखीय स्वीकार किया गया है।[2] फलतः उद्धृत पद काण्वशाखीय है।

8. वाजसनेयिप्रातिशाख्य 7/9 के अनुसार भाव्युपध विसर्जनीयान्त और रिफित विसर्जनीयान्त पदों का इति के साथ रेफ से परिग्रह किया जाता है।[3] उदाहरणार्थ–

(1) नमोभिः (प0पा0, 13/43)=नमोभिरिति नमोभिः (क्र0पा0)।

(2) कः (प0पा0, 33/59)=करिति कः (क्र0पा0)।

9. वाजसनेयिप्रातिशाख्य 7/10 के अनुसार स्पर्श वर्ग के प्रथमान्त (क्, च्, ट्, त्, प्) वर्णों का इति के साथ स्ववर्गीय तृतीय वर्ण से परिग्रह

---

1. औकारान्तं चैके, वा0प्रा0, 7/8.
2. इदं काण्वमतम्। वा0प्रा0, 7/8 पर अनन्त.
3. भाव्युपधरिद्विसर्जनीयान्तानि रेफेण, वा0प्रा0, 7/9.

होता है।[1] उदाहरणार्थ-

अस्मत् (प०पा०, 21/2) अस्मदित्यस्मत् (क्र०पा०)।

10. वाजसनेयिप्रातिशाख्य 7/11 के अनुसार स्पर्शवर्ग के पञ्चमवर्णों ङ, ञ्, ण्, न्, म् से अन्त होने वाले पदों का इति के साथ उन्हीं वर्णों से परिग्रह किया जाता है।[2] उदाहरणार्थ- नृपाययुम् (प०पा०, 20/81)= नृपाययुमिति नृपाययुम् (क्र०पा०)।

अत एव क्रमवर्ग के नियम, सङ्क्रम स्थितोपस्थित तथा परिग्रह नियमों को दृष्टिगत करके क्रम-पाठ किया जाता है।

चतुरध्यायिका एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्य में क्रमपाठ का महत्त्व

क्रमपाठ के महत्त्व का विधान दोनों ही प्रातिशाख्यों में कतिपय सूत्रों के द्वारा अत्यन्त रोचक विधि से वर्णित है।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य 4/182 के अनुसार क्रमपाठ का प्रयोजन स्मृति है। तात्पर्य यह है कि संहितापाठ और पदपाठ के विषय को क्रमपाठ दृढ़ स्मरण बना देता है। अतएव संहितापाठ और पदपाठ की दृढ़ता के लिए क्रमपाठ का अध्ययन किया जाता है। भाष्यकार उवट का कथन है कि सूत्रकार ने प्रयोजन का यह दिग्दर्शनमात्र किया है। क्रमपाठ के प्रयोजन तो नानाविध है। यथा-

(1) दो-दो पदों की वर्ण संहिता और उदात्त आदि स्वरों की संहिता का ज्ञान क्रमपाठ से ही होता है।

(2) संहिता अवसानों का ज्ञान क्रम-पाठ से होता है।

(3) क्रम-पाठ शिष्टों के मध्य में सम्मान प्रदान करता है।

(4) क्रम-पाठ के अध्ययन का प्रयोजन स्वतःसिद्ध है। अतः यह अध्ययन-पुण्यप्रद होता है।

---

1. प्रथमान्ततृतीयेन, वा०प्रा०, 7/10.
2. उत्तमान्तमुत्तमेन, वा०प्रा०, 7/11.

चतुरध्यायिका के अनुसार 4.4.6 'संहिता-पाठ तथा पद-पाठ की दृढ़ता के लिए क्रम-पाठ का अध्ययन किया जाता है।[1]

चतुरध्यायिका 4.4.10 के अनुसार 'क्रमपाठ' के बिना संहिता में स्वर की उत्पत्ति का सम्यग् ज्ञान नहीं होता है, क्योंकि पदपाठ अथवा संहितापाठ में स्वरों की उत्पत्ति दिखलायी पड़ती।[2]

वाजसनेयिप्रातिशाख्य एवं चतुरध्यायिका के अनुसार क्रमपाठ निर्माण के नियम

क्रमपाठ के निर्माण का विधान दोनों ही प्रातिशाख्यों में विस्तार से किया गया है। चतुरध्यायिका 4.4.11-12 सूत्र के अनुसार 'दो पदों से एक क्रम-पद बनता है।' उस क्रम पद से अन्तिम पद के दूसरे पद का सन्धान (मेल) करना चाहिए।[3]

चतुरध्यायिका 4.4.13 के अनुसार 'अन्तिम पद अपने परवर्ती पद के साथ संयुक्त नहीं होता है।[4]

चतुरध्यायिका 4.4.14-15 के अनुसार 'दो पदों के मध्य में अपृक्त पद होने पर तीन पदों का एक क्रम पद होता है। तत्पश्चात् एकादेश, स्वर सन्धि, दीर्घत्व और मूर्धन्य बाद के प्रयोजन हैं।[5]

चतुरध्यायिका 4.4.16-18 के अनुसार 'आ तथा ओ परवर्ती पद के साथ संहित होकर पद क्रम के प्रारम्भ में आते हैं। उकार का परिहार किया जाता है। प्रगृह्य, अवगृह्य, समापत्ति तथा अवसान में स्थित पदों का इति मध्य में होने पर परिहार होता है।[6]

1. क्रमध्ययनं संहितापददाढ्यार्थम्। अ0च0, 4.4.9.
2. स्वरोपजनश्चादृष्टः पदेषु संहितायां च। अ0च0, 4.4.10.
3. द्वे पदे क्रमपदम्। तस्यान्तेन परस्य प्रसन्धानम्। अ0च0, 4.4.11.
4. नान्तगतं परेण, अ0च0, 4.4.13.
5. त्रीणि पदान्यपृक्तमध्यानि। एकादेशस्वरसंधिदीर्घविनामाः प्रयोजनम्। अ0र्च0, 4.4.14-15.
6. आकारोकारादि पुनः। उकारः परिहार्य एव। प्रगृह्यावगृह्यसमापाद्यान्तगतानां द्विवचनं परिहार इतिमध्ये। अ0च0, 4.4.16-18.

चतुरध्यायिका 4.4.18-21 के अनुसार 'उकार का परिहार करते समय दो बार इति का अनुप्रयोग हो जाता है। अनुनासिक तथा दीर्घ होने के कारण उकार का परिहार करते समय दो बार इति को जोड़ा जाता है। परिहार में प्लुत का अप्लुतवत् उच्चारण किया जाता है।[1]

चतुरध्यायिका 4.4.22-23 के अनुसार 'अनुनासिक को प्रथम बार शुद्ध (निर्‌नुनासिक) कर दिया जाता है। सन्धि के सामान्य नियमों के अनुसार पदों का सन्धान करना चाहिए।[2]

चतुरध्यायिका 4.4.24-27 के अनुसार अवग्रह से युक्त प्रगृह्य पद पुनरुच्चारण (वर्चायां) में क्रम-पाठ के समान मध्य में अवग्रह (ऽ) रख कर करना चाहिए। अवसान में आने वाले जिस समापाद्य पद के विकार का निमित्त स्वयं पर में ही है, उसका उच्चारण (इति के पूर्व में) संहिता वत् किया जाता है। यह पुनर्कथन, आस्थापित संज्ञक होता है। 'आस्थापित' संज्ञक में एक क्रम पद का परिहार किया जाता है।[3]

●

---

1. द्वाभ्यामुकारः। अनुनासिकदीर्घत्वं प्रयोज़नम्। प्लुतश्चाप्लुतवत्। अ0च0, 4.4.19-21.
2. अनुनासिकः पूर्वश्च शुद्धः। यथाशास्त्रं प्रसंधानम्। अ0च0, 4.4.22-23.
3. प्रगृह्यावगृह्यचर्यायां क्रमवदुत्तरस्मिन्नवग्रहः। समापाद्यानामन्ते संहिता वद्वचनम्। तस्य पुनरास्थापितं नाम। स एकपदः परिहार्यश्च। अ0च0, 4.4.24-26.

उपसंहार

वैदिक मन्त्रों के बाह्य-स्वरूप के पूर्ण परिज्ञान तथा परिशीलन में सूत्र-ग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन वैदिक अध्ययन-अध्यापन की परम्परा को अविकृत एवम् अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए सूत्र-ग्रन्थों का प्रवर्तन हुआ। प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में वेद की प्रत्येक शाखा का सर्वाङ्गीण अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, जिसके फलस्वरूप वैदिक संहिताएं आज भी अपने उसी अपरिवर्तित रूप में अक्षुण्ण हैं जिस रूप में प्रारम्भिक काल में थी। प्रातिशाख्यों में व्याकरण के सूक्ष्म तत्त्वों का प्रतिपादन, प्राचीन वैदिक भाषा के मौलिक तत्त्वों की सुरक्षा और भाषा का विश्लेषण वैज्ञानिकता तथा ध्वनिविज्ञान के आधार पर किया गया है। अत एव सूत्र-ग्रन्थों का गौरव स्वतः सिद्ध है। चतुरध्यायिका में भी प्रातिशाख्य के महत्त्वपूर्ण विषय प्रतिपादित किये गये हैं। फलतः वाजसनेयिप्रातिशाख्य में प्रतिपादित विषयों का चतुरध्यायिका में प्रतिपादित विषयों के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत प्रबन्ध में किया गया है।

वेदाध्ययन, संज्ञा, वर्णसमाम्नाय तथा वर्णोच्चारण के सिद्धान्तों का विश्लेषण प्रथम अध्याय में दृष्टिगत है। एतद्विषयक उपसंहृत वाक्य इस प्रकार हैं–

वेदों के अध्ययन-अध्यापन की विशेष परम्परा सुदीर्घकाल से चली आ रही है। दोनों प्रातिशाख्यों में वेदाध्ययनविषयक कतिपय सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, जिनका तुलनात्मक अध्ययन प्रथम अध्याय के अन्तर्गत किया गया है।

संक्षिप्तता सभी शास्त्र-ग्रन्थों का एक विशेष गुण है। अतः सभी शास्त्रों में, संक्षेप में विपुल अर्थ को प्रदर्शित करने के लिए कुछ संज्ञाओं तथा परिभाषाओं का विधान किया गया है। इनकी सहायता से शास्त्र में विहित विषय-वस्तु को समझने में सौविध्य होता है। अतः दोनों प्रातिशाख्यों में विहित संज्ञाओं तथा परिभाषा-सूत्रों का तुलनात्मक अध्ययन

भी प्रथम अध्याय के अन्तर्गत किया गया है।

इसी शृङ्खला में दोनों प्रातिशाख्यों में विहित वर्णसमाम्नाय का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। ध्वनि-विज्ञान प्रातिशाख्यों का एक महत्त्वपूर्ण प्रतिपाद्य विषय है जिनके मूल आधार वर्ण हैं। वर्णों से ही पद निष्पन्न होते हैं।

प्रथम अध्याय के वर्णित विषयों में वर्णोच्चारण पर भी विस्तार से प्रकाश डाला गया है। मन्त्रों के शुद्धोच्चारण के लिए वर्णों के उच्चारण-विषयक नियमों का ज्ञान आवश्यक है। एतदर्थ भी दोनों प्रातिशाख्यों का तुलनात्मक स्वरूप प्रतिपादित किया गया है।

प्रत्येक प्रातिशाख्य पद-पाठ को प्रकृति मान कर सन्धि नियमों के आधार पर संहिता बनाने का विधान करता है। अतः संहिता-पाठ के निर्माण हेतु सन्धि-नियमों का ज्ञान आवश्यक है। दोनों प्रातिशाख्यों में किये गये सन्धिविषयक विधानों का तुलनात्मक अध्ययन द्वितीय अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

पदों के अर्थ-ज्ञान में उदात्तादि स्वरों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैदिक काल में याज्ञिक क्रियाओं में मन्त्रों का सस्वर ही पाठ होता था। पाणिनीय-शिक्षा के अनुसार अशुद्ध स्वर में मन्त्र का उच्चारण करने पर वह मन्त्र अभिप्रेत अर्थ को प्रकट नहीं कर पाता है। अशुद्ध स्वर-युक्त उच्चरित मन्त्र से अनर्थ ही होता है। जिस प्रकार 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' इस मन्त्र में अशुद्ध स्वर का उच्चारण करने के कारण वृत्रासुर मारा गया। प्रत्येक प्रातिशाख्य में स्वर-विषयक विधान विहित है। दोनों प्रातिशाख्यों के स्वरविषयक विधानों का तुलनात्मक अध्ययन तृतीय अध्याय में किया गया है।

वैदिक मन्त्रों के अर्थावबोध के लिए पद-पाठ का ज्ञान आवश्यक होता है। पद-पाठ में संक्रमण, पदपाठ में अवग्रह, पद-पाठ में स्थितोपस्थित, आदि का विवेचन दोनों प्रातिशाख्यों में विहित है। अतः पदपाठविषयक विधानों का तुलनात्मक अध्ययन चतुर्थ अध्याय में किया गया है।

संहितापाठ तथा पद-पाठ दोनों की रक्षा को दृष्टि में रखकर क्रमपाठ का निर्माण हुआ। क्रमपाठ में संहितापाठ तथा पदपाठ दोनों के रूप निर्दिष्ट

हैं। दोनों प्रातिशाख्यों में विहित क्रमपाठविषयक नियमों का विवेचन पञ्चम अध्याय में किया गया है।

प्रबन्ध के अतिशय विस्तार के भय से उसमें सभी उदाहरणों को नहीं दिया गया है। विषयवस्तु की स्पष्टता के लिए सूत्रों से कतिपय उदाहरणों को ही उद्धृत किया गया है। सामान्य परिभाषिक शब्दों का विवेचन प्रस्तुत नहीं किया गया है, क्योंकि उन पर विद्वानों में अपने विचार व्यक्त किये हुए हैं।

दोनों प्रातिशाख्यों में प्रतिपादित विषय-वस्तुओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि चतुरध्यायिका तथा शुक्लयजुर्वेद के विषय-वस्तु में प्रायः साम्य है। किन्तु पृथक्-पृथक् वेदसम्बन्धित प्रातिशाख्य होने के कारण उनमें वैषम्य भी परिलक्षित होता है। स्मरणीय है कि शुक्लयजुर्वेद पर आधारित शुक्लयजुर्वेदप्रातिशाख्य है एवम् अथर्ववेद पर आधृत चतुरध्यायिका है।

दोनो ही प्रातिशाख्य अपनी-अपनी चरण की शाखाओं की संहिताओं के बाह्य-स्वरूप से सम्बन्धित सभी प्रकार के विधानों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत करने में पूर्णतया समर्थ हैं।

परिशिष्ट-1

चतुरध्यायिका के सूत्रों का विवरण

प्रथम अध्याय

प्रथम पाद	ग्रन्थ का परिचय क्षेत्र	1-2 सूत्र
	पदान्तीय वर्ण	3-9 सूत्र
	सोष्म, अनुनासिक, अघोष, घोषवर्णों का विधान	10-13 सूत्र
	स्वरों का विवरण	14-17 सूत्र
	स्थान और करण के आधार पर ध्वनियों का वर्गीकरण	18-28 सूत्र
	अभ्यन्तर प्रयत्न के आधार पर ध्वनियों का वर्गीकरण	29-34 सूत्र
	ऋ, लृ, वर्णो का स्वरूप	35-39 सूत्र
	सन्ध्यक्षरों का स्वरूप	40-41 सूत्र
द्वितीय पाद	अभिनिष्ठान	1 सूत्र
	संयुक्त व्यञ्जनो का स्वरूप	2-7 सूत्र
	संयोग के स्थल	8-12 सूत्र
	दृत्ति-निरूपण	10-13 सूत्र
	अक्षर विभाजन	14-17 सूत्र
	मात्रा-निरूपण	18-21 सूत्र
तृतीय पाद	कतिपय विशिष्ट विधान	1-4 सूत्र
	अनुनासिक विधि	5-10 सूत्र
	प्रगृह्य स्वर	11-20 सूत्र
	पद-पाठ में इद स्वर बाद में होने पर प्रगृह्य स्वर इतिकरण	21 सूत्र

	अन्तःपद ह्रस्व तथा दीर्घ अनुनासिक	22-29 सूत्र
चतुर्थ पाद	उपधा	1 सूत्र
	अक्षर	2 सूत्र
	विशेष विधान	3 सूत्र
	सन्धिविषयक परिभाषा सूत्र	4 सूत्र
	स्वर-सम्बन्धी विशिष्ट विधान	5 सूत्र
	विशेष स्थलो में इति के पूर्व में उलुति का निषेध	6 सूत्र
	संयोग	7 सूत्र
	यम	8 सूत्र
	नासिक्य	9 सूत्र
	स्वरभक्ति, स्फोटन एवं उनका प्रभाव	10-13 सूत्र
	प्लुत स्वरों के उदाहरण	14-19 सूत्र

द्वितीय अध्याय

प्रथम पाद	संहिताविषयक अधिकार सूत्र	1 सूत्र
	प्रथम स्पर्शों के विकार	2-7 सूत्र
	तकार का आगम	8 सूत्र
	क् ट् त् का आगम	9 सूत्र
	नकार के विकार	10-12 सूत्र
	तकार के विकार	13-14 सूत्र
	तवर्ग का मूर्धन्यभाव	15-16 सूत्र
	शकार को हकारादेश	17 सूत्र
	धातु के सकार का लोप	18 सूत्र
	रेफ का लोप	19 सूत्र
	मध्यवर्ती स्पर्श का लोप	20 सूत्र
	पदान्त य्, व् का लोप	21 सूत्र
	अपवाद	22-23 सूत्र

	शाकटायन का मत	24 सूत्र
	मकार के विकार	25 सूत्र
	नकार के विकार	26-29 सूत्र
	अपवाद	30 सूत्र
	मकार का परस्थानीय में परिवर्तन	31 सूत्र
	मकार का लोप	32-33 सूत्र
	नकार का लोप	34 सूत्र
	मकार, नकार का लकार में परिवर्तन	35 सूत्र
	मकार के लोप का निषेध	36-37 सूत्र
	स्फोटन	38 सूत्र
	कर्षण	39 सूत्र
द्वितीय पाद	विसर्जनीय सन्धि	1-2 सूत्र
	विसर्जनीय का रेफ में परिवर्तन	3-11 सूत्र
	अपवाद	12-13 सूत्र
	विसर्जनीय का उकार में परिवर्तन	14-15 सूत्र
	विसर्जनीय का लोप	16-20 सूत्र
तृतीय पाद	विसर्जनीय का उकार में परिवर्तन	1 सूत्र
	विसर्जनीय का तकार में परिवर्तन	2 सूत्र
	विसर्जनीय का सकारभाव	3-21 सूत्र
चतुर्थ पाद	सकार का मूर्धन्यभाव	1-21 सूत्र
	अपवाद	21-27 सूत्र

तृतीय अध्याय

प्रथम पाद	स्वरों का दीर्घत्व-विधान	1-25 सूत्र
द्वितीय पाद	द्वित्व अथवा क्रम	1-5 सूत्र
	अपवाद	6-9 सूत्र
	प्रकृतिभाव सन्धि	10-14 सूत्र
	सन्धिविषयक परिभाषा-सूत्र	15 सूत्र

	नामि स्वरों का अन्तःस्था वर्णों में परिवर्तन	16 सूत्र
	पदान्त तथा पदादि वर्णों के विकार	17-31 सूत्र
तृतीय पाद	स्वरित के भेद	1-20 सूत्र
	कम्प स्वर	21 सूत्र
	सन्धिज स्वर	22 सूत्र
	स्वरित	23-26 सूत्र
	उदात्तश्रुति	27-30 सूत्र
	विरामकाल	40 सूत्र
चतुर्थ पाद	नकार का मूर्धन्य भाव	1-18 सूत्र
	अपवाद	19-29 सूत्र
	सकार का आगम	30 सूत्र

चतुर्थ अध्याय

प्रथम पाद	अध्याय विषय निर्देश	1-2 सूत्र
	पदों के भेद	3-4 सूत्र
	पदों के लक्षण	4-8 सूत्र
	नाम-समास	9-12 सूत्र
	गति-स्वर	13-14 सूत्र
	समास	15-26 सूत्र
	विग्रह	27-30 सूत्र
	समस्तपद	31-41 सूत्र
	उपसर्ग-संख्या	49 सूत्र
	उपसर्ग के स्वर	50-52 सूत्र
	उपसर्ग-वृत्ति	53 सूत्र
	समस्तपद	54-55 सूत्र
	विग्रह	56-59 सूत्र
	अवग्रह	60-69 सूत्र
द्वितीय पाद	भिन्न-समासों में अवग्रह के अपवाद	1-26 सूत्र

तृतीय पाद	पद-पाठ में समापत्ति (प्रकृतिदर्शन)	1-5 सूत्र
	क्रमपाठ में समापत्ति	6 सूत्र
	समापत्ति के स्थल	7-21 सूत्र
	अपवाद	22-28 सूत्र
चतुर्थ पाद	वेदाध्ययन का महत्त्व	1-6 सूत्र
	पद-पाठ का महत्त्व	7-8 सूत्र
	क्रम-पाठ का महत्त्व	9-10 सूत्र
	क्रमपाठ-निर्माण-सम्बन्धी नियम	11-27 सूत्र

●

परिशिष्ट-2

चतुरध्यायिका

चतुरध्यायिका का सूत्रानुवाद (प्रासंगिक तथा अपेक्षित व्याख्यासहित)

प्रथम अध्याय

प्रथम पाद

1. चार प्रकार के पद होते हैं जैसे– नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपाता, उनके गुण संहिता-पाठ एवं पद-पाठ में विहित है।

2. सामान्य व्याकरण विकल्पसहित है किन्तु प्रातिशाख्य वेद की शाखाविशेष के लिए विकल्प रहित नियम प्रस्तुत करता है। प्रकृत में अध्ययन का विषय प्रयोगों की विभिन्नता भी है, जो सामान्य व्याकरण के नियमों के अनुसार है जिसका प्रभाव इस पाठ में प्रयोगों को निर्धारित करना है।

   कहने का तात्पर्य यह है कि चतुर्थवेदसम्बन्धित प्रातिशाख्यों का अध्ययन करने के पश्चात् व्यक्तिविशेष सम्यक् प्रकार से वेदों की गूढ़ता को अवगत करने और कराने में समर्थ होता है।

3. किसी भी पद के अन्त में विद्यमान वर्ण पद्य संज्ञक होता है। भाव यह है- जो एक शब्द के अन्त में ही होने योग्य हो, उसे ही पद्य कहते हैं।

4. ऌ को त्यक्त करके सभी स्वर-वर्ण 'पद्य' संज्ञक होते हैं। भाव यह है– ऌ को छोड़ कर कोई भी स्वर अन्त में आ सकता है।

5. लकार और विसर्जनीय भी पद्य संज्ञक होते हैं।

6. वर्ग के 'प्रथम' तथा 'पञ्चम' वर्ण 'स्पर्श' पद्य संज्ञक होते है। भाव यह है– प्रस्तुत सूत्र में क्, ङ्, झ, ञ्, ट, ण्, त्, न्, प्, म्, ये व्यञ्जन पद्य संज्ञा वाले कहे गये हैं।

7. चवर्ग पद्य संज्ञक नहीं होता है। भाव यह है कि– प्रस्तुत सूत्र द्वारा पूर्वविहित सिद्धान्त का निषेध करते हुए कहा गया है कि चवर्ग ही 1.6.6 सूत्र का अपवाद है। चवर्ग पद्य संज्ञक नहीं होता है।

8. आचार्य शौनक के अनुसार प्रथम वर्ण के स्थान पर आदेश होने वाले तृतीय वर्ण स्पर्श संज्ञक होते हैं किन्तु यह (मत) सर्वमाननीय नहीं है।

अर्थात् सभी वेद-वेत्ता उपर्युक्त मत से सहमत नहीं है।

9. तथा अधिस्पर्श (वर्ण पद्य संज्ञक होते हैं।) भाव यह है कि 'अधिस्पर्श' द्वारा संहेतिव य तथा स् व्यञ्जन भी 'पद्य' संज्ञक कहे गये है।

10. प्रत्येक वर्ग स्थित द्वितीय एवं चतुर्थ वर्ण (स्पर्श) 'सोष्म संज्ञक' होते है।

भाव यह है– प्रस्तुत सूत्र द्वारा ख, घ्, छ्, द्, ठ्, द्, थ्, ध्, फ्,म्, व्यञ्जन सोष्म संज्ञक होते हैं, इन व्यञ्जनों को सोष्म संज्ञा से अभिहित किया गया है।

11. वर्गों के अन्तिम वर्ण (स्पर्श) अनुनासिक संज्ञक होते हैं। अर्थात् ङ्, ञ्, ण्, न्, म्, वर्ण अनुनासिक संज्ञक होते है।

12-13. अघोष व्यञ्जनों में श्वास तथा घोष और स्वर-वर्णों में नाद अनुप्रदान होता है।

14. उच्च स्वर से जो अक्षर उच्चरित होता है, वह उदात्त संज्ञक होता है।

यह कहना प्रासंगिक होगा कि संगीत की भाषा में इसे मध्यसप्तक स्वर कह सकते है जैसे सा रे ग म प ध नि।

15. निम्न ध्वनि से जो स्वर उच्चरित होता है वह अनुदात्त संज्ञक होता है।

16. आक्षेप अर्थात् उच्च ध्वनि से निम्न ध्वनि की ओर जाने से निष्पन्न स्वर 'सवरित' संज्ञक होता है।

17. 'स्वरित'- स्वर की आदि की अर्ध-मात्रा उदात्त होती है।

संगीत की भाषा में कह सकते है कि स्वरित की 1/2 मात्रा मध्यसप्तक होती है तथा 1/2 मात्रा मन्द्रसप्तक स्वर वाली होती है।

18. मुख में करण के कई प्रकार होते हैं।

अर्थात् 'करण' वह अंग विशेष है जो उच्चारण के लिए अपेक्षित प्रयत्न करता है।

19. कण्ठ्य वर्णों का संक्रिय मुखावयव (करण) अधःकण्ठ है। भाव यह है– 'कण्ठ्य स्वर' निम्न कण्ठ से उच्चरित होते हैं।

20. जिह्वा-मूल स्थान वाले वर्णों का 'करण' हनुमूल होता है (कोमलतालु है।)

भाव यह है– जिह्वामूलीय स्वर हनुमूल से उच्चरित होते हैं। जिह्वामूलीय स्वर है– ऋ, ॠ।

21. जिह्वा का मध्य-भाग तालव्य वर्णों (इ, ई आदि) का करण (सक्रियमुखावयव) होता है। यहां तालव्य वर्ण है- इ तथा ई।

22. पीछे की ओर मुड़ा हुआ जिह्वा का अग्रभाव मूर्धन्य वर्णों का उच्चारणावयव (करण होता है)।

23. द्रोणिका आकार वाली जिह्वा से अकार का उच्चारण होता है।

24. आगे की ओर फैला हुआ जिह्वा का अग्रभाग दन्त्य वर्णों (तवर्ग आदि) का करण है। दन्त्य वर्ग है- त्, थ्, द्, ध्, तथा न् ।

25. ओष्ठ्य-वर्णों (उ, ऊ आदि) का करण अधरोष्ठ होता है। 'अधरोष्ठ' पद का अर्थ है- ओष्ठ का निचला भाग तथा ओष्ठ्यवर्ण उ तथा ऊ हैं।

26. नासिक्य वर्णों कां करण नासिका है। अर्थात् नासिक्य वर्णों के लिए नासिका करण होती है।

27. अनुनासिक वर्णों का उच्चारण मुख और नासिका दोनों से होता

है। भाव यह है– नासिका से उच्चरित वर्णों के लिए मुह और नासिका दोनों ही करण होते है।

कहने का तात्पर्य यह है कि अनुनासिक वर्णों का करण मुख और नासिका बतलाया गया है।

28. रेफ, (र्) का करण दाँतों की जड़ है। अर्थात् दन्तमूल से रेफ का उच्चारण होता है।

29. स्पर्श संज्ञक व्यञ्जनों का आभ्यन्तर प्रयत्न (करण) स्पृष्ट होता है। अर्थात् वर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न जिसमें मुख के दो उच्चारणावयव एक दूसरे का स्पर्श करते है।

30. अन्तस्था-वर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न ईषत्स्पृष्ट होता है। ईषत् स्पृष्ट का शान्दिक अर्थ है– अल्प सा स्पर्श किया गया। इस अवस्था में मुखस्थ उच्चारणावयव न तो एक दूसरे का पूर्णतया स्पर्श ही करते हैं तथा न एक दूसरे से दू ही रहते हैं।)

31. ऊष्म-वर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न विवृत है। विवृत का शाब्दिक अर्थ है– खुला हुआ। इसमें दो उच्चारणवयवों का आपस में स्पर्श नहीं हो पाता। अतः वे पृथक्-पृथक् रहते हैं।

32. स्वर-वर्णों का भी आभ्यन्तर प्रयत्न विवृत है।

33. कतिपय आचार्य स्वर वर्गों का आभ्यन्तर प्रयत्न स्पृष्ट मानते है।

34. एकार (ए) तथा ओकार (ओ) का आभ्यन्तर प्रयत्न विवृततर होता है। विवृततर का शाब्दिक अर्थ है– पूर्ण खुला हुआ।

35. आकार का आभ्यन्तर प्रयत्न भी विवृततम होता है।

36. अकार का आभ्यन्तर प्रयत्न संवृत होता है। संवृत का शाब्दिक अर्थ है– स्वाभाविक या बन्द अकार के उच्चारण की अवस्था में जिह्वा एवं अन्य उच्चारणावयव स्वाभाविक रूप से रहते है।

37 ऋवर्ण रेफ से संस्पृष्ट है अर्थात् ऋवर्ण में रेफ का अंश होता है।

स्पष्टार्थ यह है– अवर्ण में आधी मात्रा वाले स्वर के मध्य

में आधी मात्रा वाला रेफ उसी प्रकार मिश्रित है जिस प्रकार अंगुलि में नख, सूत्र में मोती होते हैं। अन्य आचार्य के मतानुसार जिस प्रकार घास में कीड़ा होता है प्रस्तुत उदाहरण यह सिद्ध करता है अवर्ण में स्वरात्मक तथा व्यञ्जनात्मक तत्त्वों का परिमाण अंगुली में नख तथा सूत्र में मोती सदृश है।

38. दीर्घ (द्विमात्रिक) तथा प्लुत (त्रिमात्रिक) रूपों में (रेफ) प्रथम मात्रा में (मिश्रित) है।

39. लृवर्ण में लकार भी है।

40. सन्ध्यक्षर (ए, ओ, ऐ, औ) दो स्वरों की सन्धि से निष्पन्न होते है तथा उनका उच्चारण एक वर्ण के समान होता है।

41. किन्तु उच्चारण की दृष्टि से ऐकार और औकार एक वर्ण के समान उच्चरित नहीं होते हैं।

द्वितीय पाद :

1. विसर्जनीय (ः) के लिए अभिनिष्ठान का प्रयोग किया गया है।

2. व्यञ्जन का विधारण (पृथक्करण) अधिनिधान कहलाता है और अभिनिहित ध्वनि अभिभूत (मन्द हुई, दुर्बलतर तथा श्वास और नाद से हीन होती है)।

तात्पर्य यह है कि दो समीपवर्ती संयुक्त व्यञ्जनों में से प्रथम व्यञ्जन को द्वितीय व्यञ्जन से कुछ पृथक् करके उस प्रथम व्यञ्जन की ध्वनि को कुछ दबा कर उसका अस्पष्ट उच्चारण करना अभिनिधान कहलाता है।

3. पदान्त अथवा पूर्वपद के अन्त में विद्यमान स्पर्श का भी अभिनिधान होता है।

भाव यह है- स्पर्श वर्ग बाद में होने पर स्पर्श वर्ण का अभिनिधान होता है। उदाहरणार्थ–.मरुत् भिः। (पदपाठ) मरुद्भिः (सं0 पाठ)। यहां 'मरुत्' के तकार तथा भिः के भकार की संहिता करने पर मरुद्भिः रूप सम्पन्न होता है।

4. पदान्त तथा अवग्रह का भी अभिनिधान होता है यदि स्पर्श बाद में हो।

5. लकार के पश्चात् ऊष्म वर्णों के होने पर 'अभिनिधान' होता है।

6. हकार परे होने पर ङ् ण तथा न् का अभिनिधान होता है।

7. अभिनिधान को अस्थापित भी कहते हैं। 'आस्थापित' पद का शाब्दिक अर्थ है– रोका हुआ तथा 'विच्छेद' का अर्थ है– पृथक् किया हुआ। अभिनिधान में संयोग के प्रथम 'व्यञ्जन' के बाद थोड़ा रुक कर द्वितीय व्यञ्जन, का उच्चारण किया जाता है जिससे उसमें कुछ पृथक्करण आ जाता है। इसलिए अभिनिधान के लिए आस्थापित तथा विच्छेद का प्रयोग भी मिलता है।

8. अभिनिधान से अन्य व्यञ्जन संयुक्त होता है।

9. (संयोग के) पूर्व रूप की परवर्ती अर्ध मात्रा उत्तररूप के समान उच्चारणावयव वाली होती है।

10. संयोग न होने पर ह्रस्व स्वर लघुसंज्ञक होता है।

11. लघु से अन्य वर्ण गुरु संज्ञक होता है।

12. अनुनासिक वर्ण भी गुरु संज्ञक होते है।

13. पदान्त में वर्तमान वर्ण भी गुरुसंज्ञक होते है।

14. व्यञ्जन परवर्ती स्वर (अक्षर) का अङ्ग होता है।

15. संयोग का प्रथम व्यञ्जन पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है।

16. पद्यसंज्ञक व्यञ्जन भी पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है।

17. रेफ तथा हकार के पश्चात् क्रम (द्वित्व) से उत्पन्न होने वाला व्यञ्जन भी पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है।

18. ह्रस्व स्वर एकमात्रिक होता है।

19. व्यञ्जन भी एक मात्रा वाला होता है।

20. दीर्घ स्वर द्विमात्रिक होता है।

21. प्लुत स्वर त्रिमात्रिक वाला होता है।

तृतीय पाद :

1. दश और दाश बाद में होने पर षट् और पुरस् के अन्तिम वर्ण (ट्, स) का उकार हो जाता है तथा परवर्ती पदों (दश, दाश) को मूर्धन्य (डश, डाश्) आदेश हो जाता है।

2. क्लृप् धातु के रेफ का लकार हो जाता है।

3. किन्तु कृपा इत्यादि शब्दों में रेफ का लकार नहीं होता है।

4. पादाङ्गुलिम् इत्यादि के लकार का रेफ हो जाता है।

5. नकार और मकार का लोप होने पर पूर्ववर्ती स्वर वर्ण अनुनासिक हो जाता है।

6. नकार का यकार, रेफ तथा ऊष्म वर्ण में परिवर्तन होने पर भी पूर्ववर्ती स्वर-वर्ण अनुनासिक हो जाता है।

7. पूर्ववर्ती स्वर-वर्ण के साथ अनुनासिक स्वर की सन्धि होने पर पूर्ववर्ती स्वर-वर्ण अनुनासिक हो जाता है।

8. पुरुष आ बभूवां में अवसान में स्थित नकार के पूर्व में स्थित स्वर अनुनासिक हो जाता है।

9. अवर्ण में रेफ के बाद वाला अंश अनुनासिक हो जाता है।

10. इति के पूर्व में स्थित अपृक्त उकार अनुनासिक दीर्घ तथा प्रगृह्य भी होता है अर्थात् पद-पाठ में इति के पूर्व में स्थित दीर्घ तथा अनुनासिक अपृक्त उकार प्रगृह्य संज्ञक होता है। उदाहरणार्थ– इदम्। ऊँ इति। सु। (पद पाठ) = इदमूषु।

11. इति के पूर्व में स्थित अपृक्त उकार दीर्घ और प्रगृह्यसंज्ञक भी होता है।

12. सप्तमी विभक्ति के अर्थ में पदान्त, ईकार तथा उकार (ऊ) भी प्रगृह्य

संज्ञक होते हैं। उदाहरणार्थ- उर्वी। इति।

13. द्विवचनान्त ईकार और ऊकार प्रगृह्यसंज्ञक होते हैं। उदाहरणार्थ- इन्द्रवायू (सं0पा0)।

14. द्विवचनान्त पदों के अन्त में आने वाला एकार भी प्रगृह्यसंज्ञक होता है।

15. अस्मे, युष्मे, त्वे तथा में- ये 'प्रगृह्य' संज्ञक होते है तथा उदात्त भी होते हैं।

16. बहुवचनान्त अभी (ईकार) प्रगृह्य संज्ञक होता है।

17. आकार के अतिरिक्त अपृक्त निपात प्रगृह्य संज्ञक होता है। अर्थात् अपृक्त निपात ओकर प्रगृह्य संज्ञक होता है।

18. पदान्त ओकर भी प्रगृह्य संज्ञक होता है। अर्थात् अपृक्त निपात के अतिरिक्त पद के अन्त में स्थित ओकर भी पगृह्य संज्ञक होता है।

19. अनार्ष इति बाद में होने पर आमन्त्रित ओकर भी प्रगृह्य संज्ञक होता है।

अर्थात् सम्बोधन पद का अन्तिम ओकर अनार्ष इति के पूर्व में स्थित होने पर प्रगृह्य संज्ञक होता है। अर्थात् पद-पाठ में इति से पूर्व में स्थित सम्बोधन पद का ओकर प्रगृह्य संज्ञक होता है। अतः प्रकृतिभाव से रहता है।

संहिता-पाठ में सम्बोधन पद का ओकर प्रगृह्य नहीं होता। अतः वह सर्वत्र सन्धि-विकार को प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ चित्रभानों इति। चित्र भानो। (प0पा0), चित्रभानो (सं0पा0), वायो इति (प0पा0) वायो (सं0 पा0)

20. आर्त्नी, इव इत्यादि में इव के पंश्चात् इति आता है।

21. पद के मध्य में स्थित अनुनासिक ह्रस्व होता है।

22. पद के मध्य में स्थित अनुनासिक नपुंसकलिङ्ग के बहुवचन में दीर्घ होता है।

23. पांसु, मांस इत्यादि शब्दों में अनुनासिक दीर्घ होता है।
24. हन् तथा गम् धातुओं के समस्त रूपों में अनुनासिक दीर्घ होता है।
25. शान्, मान्, दान् धातुओं के सन्नन्त रूपों में अनुनासिक दीर्घ होता है।
26. वस् प्रत्ययान्त पदों के प्रथमादि पाँच रूपों में अनुनासिक दीर्घ होता है।
27. ईयस् प्रत्ययान्त पदों के प्रथमादि पाँच रूपों में अनुनासिक दीर्घ होता है।
28. 'विद् धातु के पाँच रूपों में अनुनासिक दीर्घ होता है।
29. पुंस के प्रथमादि पाँच रूपों में अनुनासिक दीर्घ होता है।

चतुर्थ पाद :

1. अन्तिम वर्ण से पूर्ववर्ती वर्ण उपधा संज्ञक होता है।
2. स्वर-वर्ण अक्षर-संज्ञक होता है।
3. सोष्म वर्ण का पूर्ववर्ती वर्ण अनूष्म हो जाता है।
4. वर्ण-परिवर्तन समीपता की दृष्टि से होता है।
5. अखण्वखा 3इ और खैमखाइ3 में आ के बाद स्थित इ अनुदात्त है।
6. अवशा और आबभूवां में इति युक्त होने पर ए प्लुत नहीं होता है।
7. स्वर-वर्णो से अव्यवहित व्यञ्जन संयोग संज्ञक होता है।
8. एक पद में अनुनासिक स्पर्श के बाद में अनुनासिक स्पर्श विद्यमान होने पर दोनों के मध्य में क्रम से यमों का आगम होता है।
9. हकार के बाद में अनुनासिक स्पर्श विद्यमान होने पर नासिक्य वर्ण का आगम होता है।

10-11. स्वर है बाद में जिसके ऐसा ऊष्म-वर्ण बाद में होने पर रेफ के बाद में अकार से 1/2 अर्धमात्रा वाली अथवा 1/4 मात्रा वाली स्वरभक्ति उत्पन्न होती है। ऊष्म व्यतिरिक्त अन्य किसी व्यञ्जन से पहले और रेफ के बाद में आने वाली स्वर भक्ति 1/4 अथवा 1/8 मात्रा वाली होती है।

12. उस ह्रस्व-स्वरभक्ति के समान स्फोटन का उच्चारण काल (अकार के चतुर्थ (1/4) मात्रा वाला होता है)।

13. स्वर-भक्ति और स्फोटन पूर्ववर्ती स्वर से सम्बन्ध रखते है और संयोग का विच्छेद नहीं करते हैं।

14. सूत्र में उल्लिखित अधोलिखित उदाहरण प्लुत स्वरों के है– खण्णखा3इ खेमखा3इ मध्ये तदुरि। 2. इदं भूया3 इदा3मिति 3. ऊर्ध्वोनुसृष्टा3स्विर्यङ् नु सुष्टा3 सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवा3 4. पराञ्चमोदनं प्राशी3प्रत्यञ्चा3मिति। 5. त्वमोदनं प्राशी3स्त्वा-मोदना3 इति। 6. वशेया3 मवशेइति। 7. यत्तदासी3दिदं नु ता3दिति।

15. प्रयोजन होने से इन प्लुतों का इकट्ठा पाठ किया गया है।

16-17. अनेक प्रकार के प्लुत होते है। उनके तीन भेद होते हैं– स्वरपर, व्यञ्जनपर तथा विसर्जनीयपर।

18. उनमें से जो समानाक्षर पर हैं वे इति बाद में होने पर अप्लुत के समान होते है।

19. प्लुत स्वरों के विषय में इनसे अन्य भी विधान किया गया है।

द्वितीय अध्याय

प्रथम पाद

1. अधोलिखित सूत्र संहिता पर प्रयुक्त होते हैं।

2. सघोष व्यञ्जन और स्वर वर्ण बाद में होने पर पदान्त प्रथम स्पर्श, तृतीय स्पर्श हो जाता है।

3. (बाद में कोई वर्ण न होने पर) पदान्त (प्रथम) स्पर्श अघोष ही रहते हैं।

4. अघोष व्यञ्जन बाद में होने पर (भी) पदान्त (प्रथम) स्पर्श अघोष ही रहते हैं।

5. अन्तिम स्पर्श बाद में होने पर पदान्त प्रथम स्पर्श अन्तिम स्पर्श हो जाते हैं।

6. श्‌ ष्‌ स्‌ बाद में होने पर पदान्त प्रथम स्पर्श अन्तिम स्पर्श हो जाते हैं।

7. पदान्त प्रथम स्पर्श पूर्व में होने पर हकार पूर्ववर्ती स्पर्श का चतुर्थ स्पर्श हो जाता है।

8. सकार बाद में होने पर टकार के बाद तकार का आगम होता है।

9. श्‌, ष्‌, स्‌ बाद में होने पर ङ्‌, ण्‌, न्‌ के पश्चात्‌ क्रमशः क्‌, ट्‌, त्‌ का आगम होता है।

10. शकार बाद में होने पर पदान्त नकार नकार हो जाता है।

11. अघोष चवर्ग बाद में होने पर पदान्त नकार ञकार हो जाता है।

12. टवर्ग बाद में होने पर नकार णकार हो जाता है।

13. शकार और लकार बाद में होने पर पदान्त लकार परवर्ती वर्णों के समान स्थान वाला हो जाता है।

14. चवर्ग और टवर्ग बाद में होने पर भी पदान्त तकार परवर्ती वर्णों के समान स्थान वाला हो जाता है।

15. एक पद में उस (चवर्ग तथा टवर्गवर्ती वर्णों) से बाद में स्थित तवर्गीय वर्ण पूर्ववर्ती के समान स्थान वाला हो जाता है।

16. षकार के बाद भिन्न पद में स्थित होने पर भी तवर्ग, टवर्ग हो जाता है।

17. तवर्ग के बाद में स्थित शकार छकार हो जाता है।

18. उद् उपसर्ग के बाद में स्थित स्था और स्तम्भ धातुओं के सकार का लोप हो जाता है।

19. रेफ बाद में होने पर रेफ का लोप हो जाता है।

20. अननुनासिक स्पर्श बाद में होने पर अनुनासिक स्पर्श के बाद में स्थित अननुनासिक स्पर्श का लोप हो जाता है।

21. स्वर से परे पदान्त यकार तथा वकार का लोप हो जाता है।

22. आकार से परे स्थित वकार का लोप नहीं होता है।

23. गविष्टौ और गवेषण पदों में भी वकार का लोप नहीं होता है।

24. शाकटायन के मतानुसार जहां तक स्पर्श का सम्बन्ध हे, य, व का उच्चारण लेशमात्र होता है।

25. अघोष स्पर्श बाद में होने पर तथा अघोष स्पर्श के बाद ऊष्म वर्ण न होने पर पुम् का मकार विसर्जनीय हो जाता है।पुंश्च इत्यादि इसके अपवाद है।

26. अघोष चवर्ग, टवर्ग और तवर्ग बाद में होने पर तथा (चवर्गादि) अघोष स्पर्शों के पश्चात् ऊष्म वर्ण न होने पर नकार विसर्जनीय हो जाता है।

27. स्वर वर्ण बाद में होने पर उपबद्ध इत्यादि पदों में आकार के बाद में स्थित नकार विसर्जनीय हो जाता है।

28. वकार बाद में होने पर वृक्षा वनानि में नकार विसर्जनीय हो जाता है।

29. ऋतूरूत्सृजते वशी इत्यादि में नामि स्वर के बाद में स्थित नकार रेफ हो जाता है।

30. समैरयन्ताम् इत्यादि इसके अपवाद है।

31. स्पर्श बाद में होने पर मकार परवर्ती स्पर्श के समान स्थान वाला हो जाता है।

32. अन्तःस्था-वर्ण और ऊष्म-वर्ण बाद में होने पर मकार का लोप हो जाता है।

33. पद के मध्य में स्थित ऊष्म-वर्ण बाद में होने पर ही मकार का लोप होता है।

34. पद के मध्य में स्थित, ह ऊष्म-वर्ण बाद में होने पर ही नकार का लोप हो जाता है।

35. लकार बाद में होने पर मकार और नकार अनुनासिक लकार हो जाते है।

36. राज् धातु बाद में होने पर सम् का मकार प्रकृति-भाव से रहता है।

37. सन्धिज वकार बाद में होने पर भी सम् का मकार प्रकृति-भाव से रहता है।

38. वर्गस्थ स्पर्शों के क्रम का विपर्यय होने पर स्फोटन होता है, यदि पूर्ववर्ती स्पर्श पदान्त में हो।

39. चवर्ग बाद में होने पर टवर्ग का स्फोटन न होकर काल-विप्रकर्ष होता है, जिसे आचार्यों ने कर्षण संज्ञा से अभिहित किया है।

द्वितीय पाद

1. अघोष-वर्ण बाद में होने पर विसर्जनीय अघोष के समान स्थान वाला हो जाता है।

2. स्वर वर्ण बाद में होने पर विसर्जनीय यकार हो जाता है।

3. स्वर-वर्ण बाद में होने पर नामि स्वर के बाद में स्थित विसर्जनीय रेफ हो जाता है।

4. सघोष व्यञ्जन बाद में होने पर नामि-स्वर के बाद में स्थित विसर्जनीय रेफ हो जाता है।

5. स्वर अथवा सघोष व्यञ्जन बाद में होने पर आवः, कः, अकः, च वि वः तथा अविभः का विसर्जनीय रेफ हो जाता है किन्तु सर्वनाम

के उदाहरण में विसर्जनीय प्रकृतिभाव से रहता है।

6. स्वर अथवा सघोष व्यञ्जन बाद में होने पर द्वाः एवं वाः का विसर्जनीय रेफ हो जाता है।

7. अहाः का विसर्जनीय रेफ हो जाता है किन्तु 'हा' धातु का विसर्जनीय रेफ नहीं होता है।

8. किसी शब्द के सम्बोधन एक वचन के रूप में विसर्जनीय रेफ हो जाता है, जिसके द्विवचन का रूप रो से अन्त होता है।

9. अन्तः, पुनः, प्रातः, सनुतः तथा स्वः नामक अवययों के विसर्जनीय का रेफ हो जाता है।

10. स्वर्षाः में भी विसर्जनीय रेफ हो जाता है। भाव यह है कि इस पद में प्रयुक्त स्वः के विसर्ग को रेफ करने का विधान किया गया है।

11. नपुंसक लिङ्ग अहः का विसर्जनीय रेफ ही हो जाता है।

12. विभक्ति प्रत्यय अथवा रूप, रात्रि, रथन्तर शब्द बाद में स्थित होने पर अहः का विसर्जनीय प्रकृति में रहता है।

13. अधः, अन्नः और भुवः का विसर्जनीय प्रकृति भाव से रहता है।

14. अकार परे होने पर उपधस्थ अकार को उकार आदेश दिया जाय।

15. सघोष व्यञ्जन परे होने पर भी अकार को उकार आदेश किया जाय।

16. (पूर्व प्रसङ्ग के अनुसार) सघोष व्यञ्जन परे होने पर, उपधा में स्थित आकार का लोप किया जाय।

17. शेपहर्षणी और वन्दनेव वृक्षम् विसर्जनीय का लोप हो जाता है।

18. व्यञ्जन बाद में होने पर एषः और सः के विसर्जनीय का लोप हो जाता है।

19. सस्पदीष्ट में विसर्जनीय का लोप नहीं हुआ है।

20. दीर्घायुत्वाय इत्यादि में विसर्जनीय का लोप हो जाता है।

तृतीय पाद

1. दाश बाद में होने पर पूर्ववर्ती दुः का विसर्जनीय उकार हो जाता है और परवर्ती दाश का मूर्धन्य (डाश) हो जाता है।

2. शुन् बाद में होने पर विसर्जनीय तकार हो जाता है।

3. समास में ककार अथवा पकार बाद में होने पर विसर्जनीय सकार हो जाता है। किन्तु अन्तः, सद्यः, श्रेयः तथा छन्दः का विसर्जनीय सकार नहीं होता है।

4. समास में न आने पर भी ककार अथवा प कार बाद में होने पर निः, दुः, आविः तथा हविः का विसर्जनीय तकार हो जाता है।

5. त्रिः का विसर्जनीय सकार हो जाता है।

6. कुरु, करम्, कृणोत्, कृति, कृधि बाद में होने पर पूर्ववर्ती विसर्जनीय सकार हो जाता है। किन्तु (इन पदों के पूर्व में स्थित) वर्णयोः का विसर्जनीय सकार नहीं होता है।

7. ब्रह्म शब्द बाद में स्थित होने पर पर परि के पूर्व में स्थित ततः का विसर्जनीय सकार हो जाता है।

8. परि बाद में होने पर पञ्चमी विभक्ति का विसर्जनीय सकार हो जाता है। अङ्गेभ्यः परि इत्यादि में विसर्जनीय सकार नहीं होता है।

9. पृथिवि बाद में होने पर दिवः का विसर्जनीय सकार हो जाता है यदि पृथिवि से बाद में सच् धातु से निष्पन्न पद न हो।

10. पृष्ठे बाद में होने पर भी दिवः का विसर्जनीय सकार हो जाता है।

11. पति बाद में होने पर यः का विसर्जनीय सकार हो जाता है किन्तु गवाम् अथवा अस्याः के बाद में स्थित यः का विसर्जनीय सकार नहीं होता है।

12. पति शब्द बाद में होने पर षष्ठी विभक्ति का विसर्जनीय भी सकार हो जाता है किन्तु शच्याः का विसर्जनीय सकार नहीं होता है।
13. पद बाद में होने पर इडायाः का विसर्जनीय सकार हो जाता है।
14. पितृ बाद में होने पर पितुः का विसर्जनीय सकार हो जाता है।
15. पितृ बाद में होने पर द्यौः का विसर्जनीय भी सकार हो जाता है।
16. प्रथमे बाद में होने पर आयुः का विसर्जनीय सकार हो जाता है।
17. प्र बाद में होने पर और प्र के बाद में मुष् अथवा जीव् धातुरूप होने पर आयुः का विसर्जनीय सकार हो जाता है।
18. पताति बाद में होने पर परिधिः का विसर्जनीय सकार हो जाता है।
19. पृणाति बाद में होने पर निवतः का विसर्जनीय सकार हो जाता है।
20. 'पाप' बाद में होने पर मनः विसर्जनीय सकार हो जाता है।
21. रायस्पोष इत्यादि में भी विसर्जनीय सकार हो जाता है।

चतुर्थ पाद

1. इन सभी स्थलों पर नामि-स्वर के बाद में स्थित सकार षकार हो जाता है।
2. सह धातु का साङ् होने पर सकार, षकार हो जाता है।
3. तकारादि तद्वित प्रत्यय बाद मे होने पर पूर्ववर्ती सकार, षकार हो जाता है।
4. युष्मद् शब्द का आदेश होने वाले रूप बाद में होने पर पूर्ववर्ती सकार, षकार हो जाता है किन्तु तैस्त्वम् इत्यादि में सकार षकार नहीं होता है।

5. तत् तथा तानग्र आदि भी बाद में होने पर पूर्ववर्ती सकार, षकार हो जाता है।
6. स्तृतः स्व तथा स्वप् धातु बाद में स्थित होने पर पूर्ववर्ती सकार, षकार हो जाता है।
7. नामि-स्वर, कवर्ग तथा रेफ के बाद में स्थित प्रत्यय का सकार षकार हो जाता है।
8. स्त्रैषूयम् में सकार को षकार हो जाता है।
9. नकार का लोप होने पर भी प्रत्ययान्तवर्ती सकार को षकार हो जाता है।
10. उपसर्ग के बाद में स्थित धातु के सकार को षकार हो जाता है।
11. अभ्यास से परे धातु के सकार को षकार हो जाता है।
12. अकार से व्यवहित होने पर भी, उपसर्ग के बाद में स्थित स्था, सह् और सिच् धातु का सकार, षकार हो जाता है।
13. अभ्यास से व्यवहित रहने पर भी उपसर्ग के बाद में स्थित स्था धातु के सकार को षकार हो जाता है।
14. आपाक व्यतिरिक्त परम इत्यादि के बाद में स्थित सकार, षकार हो जाता है।
15. अप एवं सव्य के बाद में स्थित भी सकार, षकार हो जाता है।
16. अग्नि के बाद में स्थित स्तोभ एवं सोम का सकार, षकार हो जाता है।
17. सु मूर्धन्य (षु) हो जाता है।
18. त्रिआदि के बाद में स्थित सकार, षकार हो जाता है।
19. ऋकारान्त पद के बाद में स्थित सद् धातु का सकार, षकार हो जाता है।

20. बर्हि, पथि, अप्सु, दिवि तथा पृथिवी के बाद में स्थित होने पर भी सद् धातु का सकार, षकार हो जाता है।

21. हि का दिवि के बाद में स्थित अस् धातु का सकार, षकार हो जाता है।

22. सृप्, सृज्, स्पर्श्, स्फूर्ज्, स्वर् तथा स्मर् धातुओं का सकार षकार नहीं होता है।

23. गोसनि इत्यादि का भी सकार, षकार नहीं होता है।

24. अधि तथा अभि के बाद में स्थित स्कन्द धातु के सकार को षकार नहीं होता है।

25. परि के बाद में स्थित स्तृ धातु का सकार, षकार नहीं होता है।

26. रेफ बाद में होने पर सकार षकार नहीं होता है।

27. अभि स्याम पृतन्यतः में सकार षकार नहीं होता है।

तृतीय अध्याय

प्रथम पाद

1. आडन्त सह् धातु बाद में विद्यमान होने पर पूर्ववर्ती स्वर वर्ण दीर्घ हो जाता है।

2. पद, योग, पक्ष, पूर्ण, दंष्ट्र तथा चक्र पद बाद में होने पर अष्ट का अन्तिम स्वर अ दीर्घ हो जाता है।

3. प्रत्ययरहित व्यध् धातु बाद में होने पर पूर्ववर्ती स्वरवर्ण दीर्घ हो जाता है।

4. इदं, मु, षु इत्यादि में उकार दीर्घ हो जाता है।

5. प्रथम पाँच रूपों को छोड़ कर सर्वत्र औषधि का अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है।

6. जीवन्तीम् ओषधीम् में ओषधि का अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है।

7. साढः में स्वर दीर्घ हो जाता है।

8. रात्रि का अन्तिम स्वर विकल्प से दीर्घ होता है।

9. नर, वसु तथा मित्र बाद में होने पर विश्व का अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है।

10. पद के पूर्व में स्थित 'श्वस्' का अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है।

11. दा धातु का अकारादि रूप बाद में स्थित होने पर उपसर्ग का नामि (अन्तिम) स्वर दीर्घ हो जाता है।

12. 'वर्त' इत्यादि बाद में होने पर उपसर्ग का नामि (अन्तिम) स्वर दीर्घ हो जाता है।

13. अभ्यास का आकार विकल्प से दीर्घ होता है।

14. 'जीहीडाहम्' में प्रथम स्वर दीर्घ हो जाता है।

15. 'साह्याम' में प्रथम स्वर दीर्घ हो जाता है।

16. 'शर' इत्यादि बाद में स्थित होने पर विद्ध इत्यादि का अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है।

17. 'मन्त' प्रत्यय बाद में होने पर पूर्ववर्ती स्वर विकल्प से दीर्घ होता है।

18. ईप्सित अर्थ में यकारादि प्रत्यय बाद में स्थित होने पर पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ हो जाता है।

19. तृतीया विभक्ति का अन्तिम स्वर (विकल्प से) दीर्घ होता है।

20. रेफ का लोप होने पर पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ हो जाता है।

21. नारक इत्यादि में प्रथम स्वर दीर्घ हो जाता है।

22. दीदायत्- इत्यादि में द्वितीय स्वर दीर्घ हो जाता है।

23. सात्रासाह इत्यादि में उत्तर पद का प्रथम स्वर दीर्घ हो जाता है।

24. वृधः वरी तथा वान् बाद में स्थित होने पर ऋत का अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है।

25. त्यम् अथवा धीः बाद में न होने पर अध का अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है।

द्वितीय पाद

1. पदान्त में स्थित व्यञ्जन द्वित्व को प्राप्त हो जाता है।

2. स्वर वर्ण बाद में होने पर उपधा ह्रस्व स्वर के बाद में स्थित ङ्, ण्, न् द्वित्व को प्राप्त हो जाते हैं।

3. स्वर-वर्ण के बाद में स्थित संयोग का प्रथम व्यञ्जन द्वित्व को प्राप्त करता है।

4. संयोगादि न होने पर भी छकार का द्वित्व हो जाता है।

5. विसर्जनीय द्वित्व को नहीं प्राप्त करता है।

6. समान स्थान वाला व्यञ्जन बाद में होने पर संयोग का प्रथम व्यञ्जन द्वित्व को नहीं प्राप्त करता है।

7. रेफ तथा हकार द्वित्व को नहीं प्राप्त करते है, किन्तु रेफ तथा हकार के बाद में स्थित व्यञ्जन द्वित्व को प्राप्त करता है।

8. स्वर-वर्ण बाद में स्थित होने पर श्, ष्, स् द्वित्व को नहीं प्राप्त करते हैं।

9. प्रगृह्य स्वर प्रकृतिभाव में रहते हैं।

10. एना, एहा आदि भी प्रकृतिभाव से रहते हैं।

11. यकार और वकार का लोप होने पर पूर्ववर्ती स्वर प्रकृतिभाव से रहते हैं।

12. स्वर वर्ण के पूर्व में स्थित अपृक्त उकार प्रकृतिभाव से रहता है।

13. सन्धिज नकार तथा मकार प्रकृतिभाव से रहते है।

14. अपृक्त आकार को सर्वप्रथम पूर्ववर्ती स्वर के साथ सन्धि होती है।

15. स्वर बाद में स्थित होने पर नामि-स्वर अन्तःस्था वर्ण हो जाते हैं।

16. स्वर बाद में स्थित होने पर सन्ध्यक्षर (ए, ओ, ऐ, औ) क्रमशः अय्, अव, आय्, आव्, हो जाते हैं।

17. पूर्ववर्ती स्वर तथा परवर्ती स्वर मिलकर एक हो जाते हैं।

18. समानाक्षर (अ,आ,इ,ई,उ,ऊ,ऋ,ॠ,ऌ,ॡ) समान स्थान वाले समानाक्षर के साथ मिल कर दीर्घ हो जाते हैं।

19. सीमन्त में सन्धिज स्वर ह्रस्व होता है।

20. अवर्ण (अ या आ) के साथ इवर्ण (इ या ई) मिल कर एकार हो जाता है।

21. अवर्ण (अ या आ) के साथ उवर्ण (उ या ऊ) मिलकर ओकर हो जाता है।

22. अवर्ण (अ आ) के साथ ऋवर्ण (ऋ, ऋ) मिल कर अर् हो जाता है।

23. उपर्षन्ति इत्यादि में भी अवर्ण के साथ ऋवर्ण मिल कर अर् हो जाता है।

24. उपसर्ग का 'अ' अथवा 'आ' धातु के ऋ अथवा ॠ के साथ मिलकर आर् हो जाता है।

25. आगमयुक्त भूतकालीन धातु रूपों में भी अवर्ग के साथ ऋवर्ण मिलकर आर् हो जाता है।

26. अ या आ के साथ ए या ऐ मिल कर ऐ हो जाता है।

27. अ या आ के साथ ओ या औ मिलकर औ हो जाता है।

28. शकल्येषि इत्यादि में परल्प की प्राप्ति होती है।

29. पदान्त एकार तथा ओकार के बाद में स्थित पदादि अकार पूर्ववर्ती (ए, ओ) के साथ मिल कर एक हो जाता है।

30. पदान्त ए, औ के बाद में स्थित पदादि अकार कभी-कभी प्रकृतिभाव से रहता है।

तृतीय पाद

1. स्वरित समूह छ प्रकार का होता है उनके लक्षणों को कहा जाएगा।

2. अभिनिहित प्राश्लिष्ट, जात्य, क्षैप्र, तैरोव्यञ्जन तथा पादवृत्त- यह स्वरित स्वरों का समूह है।

3. पहले वाले क्रमशः दृढ़तर होते हैं, तथा क्रमशः बाद वाले मृदु होते हैं।

4. अभिनिहित सबसे तीक्ष्ण तत्पश्चात् प्राश्लिष्ट होता है।

5. जात्य तथा क्षैप्र ये दोनों मृदुतर स्वरित होते हैं।

6. उससे तैरोव्यञ्जन मृदुतर स्वरिता होता है।

7. पादवृत्त स्वरित सबसे मृदुतर होता है।

8. यह स्वरितों का बलाबल है।

9. कतिपय आचार्य तैरोव्यञ्जन तथा पादवृत्त को समान मानते हैं।

10. स्वरित की सन्धि में पूर्ववर्ती उदात्त तथा परवर्ती अनुदात्त होता है।

11. पदान्त एकार तथा ओकार के बाद में अकार आने पर सन्धिज स्वरित अभिनिहित संज्ञक होता है।

12. दो ह्रस्व इकारों की सन्धि होने पर प्रश्लिष्ट स्वरित होता है।

13. यकार और वकार में अन्त होने पर संयुक्त वर्ण के बाद में आने वाला अनुदात्तपूर्व अथवा अपूर्व स्वरित जात्य संज्ञक होता है।

14. अन्तःस्था वर्णों को प्राप्त होने वाले उदात्त स्वर के बाद में स्थित अनुदात्त का स्वरित होने पर क्षेप्र स्वरित होता है।

15. पद के मध्य में स्थित प्रथम पाँच रूपों में भी सन्धिज स्वरित क्षैप्र संज्ञक होता है।

16. उकारान्त प्रातिपदिकों के सभी रूपों में सन्धिज स्वरित क्षेप्र संज्ञक होता है।

17. ओण्योः में भी सन्धिज स्वरित क्षैप्र संज्ञक होता है।

18. व्यञ्जन से व्यवहित स्वरित तैरोव्यञ्जन संज्ञक होता है।

19. विवृत में होने वाला स्वरित पादवृत्त संज्ञक होता है।

20. अवग्रह पदों में (अवग्रह से व्यवहित) स्वरित तैरोऽवग्रह संज्ञक होता है।

21. उदात्त अथवा स्वरित बाद में स्थित होने पर अभिनिहित प्रश्लिष्ट जात्व और क्षैप्र स्वरितों की अणु (3/4) मात्रा अनुदात्त रूप से उच्चरित होती है, उसे विद्वद्रण विकम्पित कहते है।

22. दो स्वरों की जिस सन्धि में पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती स्वर-वर्ण उदात्त होता है वहां, सन्धिज स्वर उदात्त रहता है।

23. उदात्त स्वर से परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है।

24. पद-पाठ में भी समान पद में स्थित उदात्त स्वर से परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है।

25. पद-पाठ में अवगृह्य पदों में भी उदात्त स्वर के बाद में स्थित अनुदात्त स्वरित हो जाता है।

26. उदात्त अथवा स्वरित बाद में होने पर उदात्तपूर्व अनुदात्त स्वरित नहीं होता है।

27. स्वरित से परवर्ती अनुदात्त उदात्तश्रुति संज्ञक होता है।

28. पद-पाठ में भी समानपद में स्थित स्वरित से परवर्ती अनुदात्त, उदात्तश्रुति संज्ञक होता है।

29. पद-पाठ में अवगृह्य पदों में भी स्वरित से परवर्ती अनुदात्त उदात्तश्रुति संज्ञक होता है।

30. किन्तु स्वरित अथवा उदात्त बाद में होने पर अवव्यहित पूर्ववर्ती स्वर अनुदात्त ही रहता है।

31. व्यञ्जन वर्ण स्वर विहीन होते हैं।

32. आन्यतरेय के अनुसार व्यञ्जन भी स्वरयुक्त होते है।

33. सन्धि (संयोग) का व्यञ्जन भी स्वरयुक्त होता है।

34. आन्यतरेय के अनुसार तीन व्यञ्जनों के संयोग में बीच वाला व्यञ्जन अपने पूर्ववर्ती स्वर को प्राप्त करता है।

35. शांखमित्रि के अनुसार परवर्ती स्वर को प्राप्त करता है।

36. व्यञ्जन अपने अङ्गी स्वर के स्वर से युक्त होता है।

37. ह्रस्व अक्षर में व्यञ्जन अक्षर के आधे तथा दीर्घ अक्षर में अक्षर के चतुर्थांश स्वर वाला होता है; यह कुछ आचार्य मानते हैं।

38. शांखमित्रि के अनुसार व्यञ्जन अपने अङ्गी के सम्पूर्ण भाग वाले स्वर वाला होता है।

39. यह अस्वर वाला विधान अक्षर से सम्बन्धित है।

40. ऋचाओं, अर्धर्चों पदान्त, अवग्रह तथा विवृति में एक मात्रा काल का समय लगता है।

चतुर्थ पाद

1. समान पद में स्वर्ण (ऋ, ॠ) रेफ तथा पकार के बाद में स्थित नकार णकार हो जाता है।

2. पूर्ववर्ती में (श्रवर्णादि) विद्यमान होने पर द्रुमण आदि में नकार णकार हो जाता है।

3. अकारान्त पूर्वपद के बाद में स्थित अहन् का नकार णकार हो जाता है।

4. विभक्ति, आगम और प्रातिपदिकान्त नकार, णकार हो जाता है।
5. पृथक् पदों में स्थित होने पर भी उपसर्ग के बाद में स्थित धातु का नकार, णकार हो जाता है।
6. प्र तथा परा के बाद में स्थित एन का नकार णकार हो जाता है।
7. प्र तथा परि से बाद में नः का णकार हो जाता है।
8. आशी, उरुष्व गृहेषु तथा शिक्ष से बाद में नकार णकार हो जाता है।
9. नश् का नकार णकार हो जाता है।
10. धातु में विद्यमान पकार से बाद वाला नकार णकार हो जाता है।
11. उकार का अकार होने पर नकार णकार हो जाता है।
12. ब्रह्मण्वती इत्यादि में नकार णकार हो जाता है।
13. निपात का भी नकार णकार हो जाता है।
14. पुनः के बाद में स्थित नयामसि का नकार मूर्धन्य हो जाता है।
15. पुनः के बाद में स्थित नु धातु का नकार मूर्धन्य हो जाता है।
16. पूर्याणः में नकार मूर्धन्य हो गया है।
17. दुर्णामन् में नकार मूर्धन्य हो गया है।
18. अकारान्त पूर्वपद के बाद में स्थित नकार मूर्धन्य हो जाता है।
19. नी धातु का नकार प्रकृतिभाव से रहता है।
20. भानु का भी नकार णकार नहीं होता है।
21. परि के बाद में स्थित हि धातु का नकार प्रकृतिभाव से रहता है।
22. पदान्त नकार तथा स्पर्श से युक्त नकार प्रकृतिभाव से रहता है।
23. षान्त होने पर नश् धातु का नकार प्रकृतिभाव से रहता है।

24. स्वर का लोप होने पर हन् धातु का नकार प्रकृतिभाव से रहता है।

25. क्षुम्न इत्यादि धातुओं का नकार णकार नहीं होता है।

26. श्, स्, ल् से व्यहित नकार प्रकृतिभाव से रहता है।

27. चवर्ग, टवर्ग तथा तवर्ग से व्यवहित नकार भी प्रकृतिभाव से रहता है।

28. आकार व्यतिरिक्त किसी पद से व्यवहित भी नकार णकार नहीं होता है।

29. तुविष्टमः में सकार का आगम होता है।

चतुर्थ अध्याय

प्रथम पाद

1-2. संहिता के पदपाठ में समास, अवग्रह तथा विग्रह के विषय में जैसा शाकटायन ने कहा है, वैसा मैं भी विधान करूँगा।

3-4. नाम आख्यात उपसर्ग तथा निपात चार प्रकार के पद होते हैं।

5. आख्यात क्रियावाचक होता है।

6. द्रव्यवाचक नाम कहलाता है।

7. च इत्यादि निपात हैं।

8. प्र इत्यादि उपसर्ग हैं।

9-10. नाम अनुदात्त नाम से समस्त होता है तथा पूर्ववर्ती का मूलस्वर विद्यमान होता है।

11. युष्मद् तथा अस्मद् से युक्त पद समस्त नहीं होते।

12. सम्बोधन पद भी समस्त नहीं होता।

13. यदि नाम अनुदात्त हो तो गति प्रकृति स्वर वाला होता है।

14. यदि नाम उदात्त हो तो गति अनुदात्त होता है।

15-16. क्रिया के योग गति पूर्व में होने पर यह गति समस्त होता है तथा जितने भी अनुदात्त गति होते हैं सभी समर्थ होते है। अतएव सभी को समस्त कर देना चाहिए।

17-18. जहाँ अनेक अनुदात्त उपसर्ग होते है तथा परवर्ती प्रकृति स्वर वाला होता है तो वह परवर्ती आख्यात हो अथवा नाम–सभी समस्त होते हैं।

19-20. जो अनुदात्त स्वर वाला उपसर्ग पूर्व में हो अथवा बाद में हो वह अनुदात्त उपसर्ग उदात्त उपसर्ग के साथ समस्त हो जाता है। सुप्रतिष्ठित यह उदाहरण है।

21-23. जो उदात्त निपात किसी स्थल पर अनुदात्त हो जाय तो वह नियमानुसार समस्त हो जाता है। इतिहास (पद) उदाहरण है। नघारिषां, सुसहे इत्यादि को भी उदाहृत करना चाहिए।

24. सह के साथ परवर्ती अनुदात्त नाम समस्त होता है।

25-26. जहाँ उदात्त स्वभाव वाला निपात होता है वहाँ वह परवर्ती अनुदात्त नाम पद से समस्त होता है। सहसूक्तवाकः, सान्तर्देशा तथा शतक्रतुः उदाहरण है।

27-28. अनुदात्त गति मध्य में हो तथा उससे पूर्ववर्ती तथा परवर्ती पद प्रकृति स्वर वाला हो तो वहाँ पूर्ववर्ती गति से विच्छेद कर देना चाहिए। पुरुषेऽधि समाहिते उदाहरण है।

29-30. जहाँ उदात्त गति के पश्चात् गति हो तथा उससे बाद में अनुदात्त पद हो तो वहाँ पूर्ववर्ती गति से विच्छेद हो जाता है। संसूभूत्या उदाहरण है।

31-32. जहाँ पूर्ववर्ती तथा परवर्ती दोनों पद प्रकृति स्वर में रहते हैं वहाँ आद्युदात्त पद को छोड़कर दोनों पद समस्त होते हैं।

33. नाम परस्पर समस्त नहीं होते।

34. नाम और आख्यात भी परस्पर समस्त नहीं होते।

35. नाम पदनाम तथा उपसर्गों से सम्बन्ध के लिए समस्त होते हैं।

36-38. युष्मद् और अस्मद् के आदेश से प्राप्त नाम पद, अनुदात्त स्वर से बाद में विद्यमान उपसर्ग गति के साथ कभी भी समस्त नहीं होते। मामनु प्रते तथा प्र वाम् इत्यादि उदाहरण हैं।

39-41. एतत् तथा इदम् के आदेश से प्राप्त अनुदात्त नाम पद उपसर्ग गति के साथ कभी-कभी समस्त हो जाते हैं उदाहरण– वृहन्नेषाम्, य एनां वनिमायन्ति, पर्येनाम्, पर्यस्य।

42-43. अनुदात्त गति परवर्ती सभी स्वरित इत्यादि स्वर वाले पदों से समस्त होता है। संस्राव्येण, दुरमण्यः, आचार्यः यह उदाहरण है।

44-45. प्र परा नि आ, दुः, नि, अव, अधि, पर्य, वि, अति, अभि, अपि, सु, उत्, उप, अनु, प्रति– ये बीस उपसर्ग है।

46. एकाक्षर उपसर्ग उदात्त होते हैं।

47. अन्य उपसर्ग आद्युदात्त होते हैं।

48. अभि अन्तोदात्त होता है।

49. जिस प्रकार क्रिया के योग में उपसर्ग होते हैं वैसे ही अन्य पद के योग में उपसर्ग गति कहलाते हैं।

50-52. इस प्रकार इनमें दस उपसर्ग आद्युदात्त तथा एकाक्षरात्मक नौ उदात्त और अभि अन्तोदात्त होता है।

53. अच्छा, अरं, अस्तं, हस्तः, लाङ्गूलं, तिरः, पुरः पुनः, नमः, श्येती, वाती, फली, हिं, सुक्, वषट् प्रादुः, उला, ककजा, स्वाहा, स्वधा, श्रत्, स्वरः तथा अला ये उपसर्गवृत्ति वाले हैं। संहिता में जैसे पढ़े गये हैं वैसे स्वर वाले होते हैं।

54. उदात्त धातु के साथ उपसर्ग का समास हो जाता है।

55. अनुदात्त धातु के साथ एक से अधिक उपसर्गों का भी समास हो जाता है।

56. अभि, वि, तनु- इत्यादि में अनर्थक (समानार्थक) कर्मप्रवचनीय तथा अन्य शब्द से युक्त (सम्बन्धित) होने पर धातु से उपसर्ग का विग्रह किया जाता है।

57. अभि विपश्यामि इत्यादि में धातु से अतिपूर्व उपसर्ग का विग्रह किया जाता है।

58. योनावधैयरयन्त, इत्यादि में भी धातु से उपसर्ग का विग्रह किया जाता है।

59. प्लुत स्वर से सिद्ध होने के कारण आशीः और अभूवाँ का विग्रह किया जाता है।

60. पूर्ववर्ती उपसर्ग अवग्रह द्वारा पृथक् किया जाता है।

61. यातुमावत् में पूर्वपद को अवग्रह द्वारा पृथक्करण किया जाता है।

62. (अन्य) समास में भी अवग्रह द्वारा पृथक्करण किया जाता है।

63. जब कोई समास पुनः परवर्ती पद के साथ संयुक्त हो जाता है तो परवर्ती पद को अवग्रह द्वारा पृथक् किया जाता है।

64. सुप्राव्या में भी अन्तिम पद को अवगृहीत किया जाता है।

65. दो से अधिक पदों के समास में अन्तिम पद अनिङ्ग होने पर पूर्वपद को अवग्रह द्वारा पृथक् किया जाता है।

66. तद्धित प्रत्यय के रूप में विद्यमान धा को अवगृहीत किया जाता है।

67. आकारान्त होने पर 'त्रा' को अवगृहीत किया जाता है।

68. अनेकाक्षर पद से था को अवगृहीत किया जाता है।

69. तर एवं तम प्रत्ययों को अवगृहीत किया जाता है।

70. मन्त प्रत्यय को अवगृहीत किया जाता है।

71. वकार से आरम्भ होने वाले तद्धित प्रत्यय भी अवगृहीत किये जाते हैं।

72. वीत्सा अर्थ में शम् प्रत्यय अवगृहीत किया जाता है।
73. ताति (तातिल्) प्रत्यय अवगृहीत किया जाता है।
74. द्यु को अवगृहीत किया जाता है बाद में उभय होने पर।
75. मास को भी अवग्रह द्वारा पृथक् किया जाता है।
76. विश्व के बाद में स्थित दानीम् प्रत्यय अवग्रह द्वारा पृथक् किया जाता है।
77. सकार के पश्चात् न आने पर 'मय' प्रत्यय अवगृहीत किया जाता है।
78. व्यञ्जन के बाद विद्यमान 'क' प्रत्यय अवगृहीत किया जाता है।
79. अन्तोदात्त होने पर त्व प्रत्यय भी अवगृहीत किया जाता है।
80. पूर्वपद के साथ कृत्व का समास विकल्प से होता है। कृत्व की प्रकृति के अनुसार कृत्व को अवगृहीत किया जाता है। अथवा जो भिन्न-भिन्न पदों के रूप में दिखलायी पड़ता है।
81. 'जातीय' आदि को अवग्रह द्वारा पृथक् किया जाता है।
82. कृदन्त, समन्त और नामधातु के साथ इच्छा के अर्थ में जुड़ने वाले वकारादि प्रत्यय से पूर्व में स्वर होने पर उसे अवग्रह द्वारा पृथक् किया जाता है।
83. वसु, अव, स्वप्न, सुम्न एवं साधु पदों से या को अवग्रह द्वारा पृथक् किया जाता है।
84. (प्रातिपदिक से) भिस्, भ्याम् (विभक्ति प्रत्यय) अवग्रह द्वारा पृथक् किये जाते हैं।
85. सु (सप्तमी बहुवचन) भी अवगृहीत किया जाता है।
86. दीर्घ स्वर के बाद में विद्यमान भिम्, भ्याम्, तथा सु अवगृहीत नहीं किये जाते हैं।

87. मूर्धन्य हो जाने पर भी सु को अवग्रह द्वारा पृथक् नहीं किया जाता है।

88. ह्रस्व स्वर के पश्चात् विद्यमान वस् प्रत्यय अवग्रह द्वारा पृथक् किया जाता है।

89. उपसर्गयुक्त धातु के साथ जुड़ने पर भी वस् प्रत्यय अवग्रह द्वारा पृथक् किया जाता है।

90. जब प्रत्यय वकार से आरम्भ नहीं होता है तब उपसर्ग को ही अवग्रह द्वारा पृथक् किया जाता है।

91. पूरण अर्थ में समन्तः को अवग्रह द्वारा विभक्त किया जाता है।

92. प्राण अर्थ होने पर वि और सम् उपसर्ग को अनु धातु से अवग्रह द्वारा पृथक् किया जाता है।

93. काम्य तथा आम्रेडित पद भी अवग्रह द्वारा पृथक् किये जाते हैं।

94. इव को भी अवगृहीत किया जाता है।

95. दो अवगृह्य पदों के मध्य में अवग्रह किया जाता है।

96. दो समासों वाले पद में मध्य से अवगृहीत किया जाता है।

97. अवगृह्य द्विरुक्त के मध्य में अवग्रह किया जाता है।

98. वसुधातर तथा सहस्रसातम में वसु और सहस्र से धातर तथा सातम को अवगृहीत किया जाता है।

99. सुभिषक्तमः में तम प्रत्यय को अवग्रह द्वारा पृथक् किया जाता है।

द्वितीय पाद

1. मन्त् तथा समानार्थक प्रत्यय तकार एवं सकार के बाद में विद्यमान होने पर अवगृहीत नहीं किये जाते है।

2. यः त और एत के बाद में स्थित वत् प्रत्यय अवगृहीत नहीं किया जाता है।

3. देवता द्वन्द्व समास में दोनों पदों को अवग्रह द्वारा पृथक् नहीं किया जाता है।

4. उत्तर पद के आदि व्यञ्जन से पूर्व जिस द्वन्द्व समास के पूर्व पद का अन्तिम स्वर दीर्घ हो, उस समास में अवग्रह नहीं दिखलाया जाता है।

5. सन्देह होने के कारण षोडशी में अवग्रह नहीं दिखलाया जाता है।

6. अहोरात्रे में अवग्रह नहीं दिखलाया जाता है।

7. अन्त धातु के रूपों तथा समास के पूर्ववर्ती पदों को अवग्रह द्वारा पृथक् नहीं किया जाता है।

8. समुद्रादि गण के समासों में भी अवग्रह नहीं दिखलाया जाता है।

9. समास के उस पद को अवग्रह द्वारा पृथक् नहीं किया जाता है, जिसमें वृद्धि सन्धि होती है, जो एकाक्षर तथा स्वरान्त होता है।

10. अप्रायायन् आदि को छोड़कर समास के उस पद को अवग्रह द्वारा पृथक् नहीं किया जाता है, जो एकाक्षर अवर्णान्त तथा प्रतिषेधार्थक (निषेधार्थपरक) होता है।

11. प्राणति तथा प्राणान्ति में उपसर्ग को अवगृहीत नहीं किया जाता है।

12. सकारादि कृ धातु से सम् एवं परि उपसर्ग को अवगृहीत नहीं किया जाता है।

13. सकारादि कृधातु को संम् तथा पर्य से पृथक् नहीं किया जाता।

14. उन सभी समस्त पदों में पृथक्काय नहीं होता जिन के उत्तर पद के आदि में सकार का आगाम होता है।

15. तृविष्टम को छोड़ कर उन समासों में भी अवग्रह नहीं दिखलाया जाता है जहां सकार का आगम होता है।

16. विश्पति तथा विश्पत्नी (समासों) में अवग्रह नहीं दिखलाया जाता है।

17. तकार से प्रारम्भ होने वाले दा धातु के रूपों में उपसर्ग को अवगृहीत नहीं किया जाता है।
18. उद् उपसर्ग के साथ स्था तथा स्तम्भ धातुओं के समास में उपसर्ग को अवग्रह द्वारा पृथक् नहीं किया जाता है।
19. इकार से प्रारम्भ होने वाले धा धातु के रूपों में भी उपसर्ग को अवगृहीत नहीं किया जाता है।
20. जास्पत्यम् में अवग्रह नहीं दिखलाया जाता है।
21. मनुष्यत् में अवग्रह नहीं दिखलाया जाता है।
22. त्रेधा में अवग्रह नहीं दिखलाया जाता है।
23. संज्ञा-पदों में अवग्रह नहीं दिखलाया जाता है।
24. व्यध् धातु को अवगृहीत नहीं किया जाता है।
25. अकारान्त अथवा इकारान्त सर्वनाम पदों का (दृश् धातु के साथ समास होने पर) दृश् धातु को अवग्रह द्वारा पृथक् नहीं किया जाता है।
26. आङन्त सह धातु को अवगृहीत नहीं किया जाता है।
27. अव्यय पदों में अवग्रह नहीं दिखलाया जाता है।
28. दिशा अर्थ में प्रयुक्त आशा पद में अवग्रह नहीं दिखलाया जाता है।

तृतीय पाद

1. पदों की प्रकृति दिखलाना समापत्ति है।
2. चर्चा तथा परिहार में षत्व, सत्व, उपचार दीर्घत्व, टुत्व, लोप, आन्पद विकारों को प्राप्त पदों की समपत्ति (प्रकृतिदर्शन) होती है।
3. पूर्व-पद में निमित्त विद्यमान होने पर भी पदपाठ में षत्वादि विकारों को प्राप्त पदों की प्रकृति को दिखलाया जाता है।

4. इंग्य (अवग्रह्य) समासों में विकृत पदों की प्रकृति को दिखलाया जाता है।
5. अन्य पदों से समास होने पर भी विकृत पदों की प्रकृति को दिखलाया जाता है।
6. क्रम-पाठ में दूसरे पद के साथ पृथक् किये जाने पर विवृत्त पद की प्रकृति को दिखलाया जाता है।
7. (पदपाठ में) अवसान में आने वाले पद के सांहितिक दीर्घत्व को हटा दिया जाता है।
8. चतुरात्र में अवग्रह के पूर्व ही प्रकृति को दिखलाते हैं।
9. पद के अन्त में स्थित विकारों की प्रकृति को दिखलाया जाता है।
10. अभ्यास के कारण मूर्धन्यभाव को प्राप्त पदों की प्रकृति को दिखलाया जाता है।
11. स्त्रैषूयं, नार्षदेन, दुष्टरं, त्रैष्टुभ, त्रैहायणात् और जास्पत्यम् के प्रकृति रूप को दिखलाते हैं।
12. धातुओं के भूतकालीन रूपों में अभ्यास होने पर प्रकृति रूप को दिखलाते हैं।
13. वावृधान इत्यादि को भी प्रकृति रूप में दिखलाते है।
14. निषेध अर्थ से सम्बद्ध न होने पर कृप्, रुष्य औष्र रिष् धातु की प्रकृति को दिखलाते हैं।
15. जीहीडाहम् का प्रकृति रूप दिखलाते हैं।
16. साह्याम का प्रकृति रूप दिखलाते हैं।
17. दीदायत् का प्रकृति रूप दिखलाते हैं।
18. नारक इत्यादि पदों की प्रकृति को दिखलाते हैं।
19. च्यु धातु के प्रेरणार्थक णिजन्त रूपों की प्रकृति को दिखलाते हैं।

20. आख्यात होने पर युधातु के रूपों की प्रकृति को दिखलाते हैं।
21. वन्, यम्, श्रथ् तथा ग्लाप् धातुओं के भी प्रकृति रूप को दिखलाते हैं।
22. किन्तु अष्ट की प्रकृति नहीं दिखलायी जाती है।
23. हि धातु के रूपों की प्रकृति नहीं दिखलायी जाती है।
24. बोधप्रतीबोधौ, केसरप्राबधाया, अभ्यघायन्ति, पनिष्पत् आतिष्ठिपं, दाधार जागार और मिमाय की प्रकृति को नहीं दिखलाते हैं।
25. प्रण धातु के रूप प्रषण को भी प्रकृति रूप में नहीं दिखलाते है।
26. एक क्रमपद में ही विद्यमान होने के कारण इदमषु इत्यादि की प्रकृति को नहीं दिखलाते हैं।
27. ब्रह्मणवती इत्यादि की प्रकृति को नहीं दिखलाया जाता है।
28. दीर्घायुत्व इत्यादि पदों के भी प्रकृति रू को नहीं दिखलाया जाता है।

चतुर्थ पाद

1. वेद का अध्ययन धर्म है।
2. मृत्यु के पश्चात् प्रकाश की कामना करने वालों के लिए वेद का अध्ययन ही धर्म है।
3. जैसाकि याज्ञिकों के द्वारा बतलाया गया है।
4. यज्ञ का अनुष्ठान वेदों के बिना नहीं हो सकता।
5. यज्ञ में लोक प्रतिष्ठित है। अर्थात् यज्ञानुष्ठान करने से ऋत्विक् को स्वेच्छानुसार तत्तद् लोकों की प्राप्ति होती है।
6. पाँच प्रकार के जन लोकों में प्रतिष्ठित है।
7. पदों के अन्त, आदि तथा वैदिक शुद्ध स्वरों (शब्द) के अर्थज्ञान के लिए पदपाठ का अध्ययन किया जाता है।

8. संहिता की दृढ़ता के लिए पदपाठ का अध्ययन किया जाता है।

9. संहितापाठ तथा पदपाठ की दृढ़ता के लिए क्रमपाठ का अध्ययन किया जाता है।

10. क्रमपाठ के बिना, संहिता में स्वर की उत्पत्ति का सम्यग्ज्ञान नहीं होता है, क्योंकि पदपाठ अथवा संहितापाठ में स्वरों की उत्पत्ति दिखलायी नहीं पड़ती है।

11. दो पदों से एक क्रमपद बनता है।

12. उस क्रमपद से अन्तिम पद के दूसरे पद का सन्धान अथवा संयोजन करना चाहिए।

13. अन्तिम पद अपने परवर्ती पद के साथ संयुक्त नहीं होता है।

14. दो पदों के मध्य में अपृक्त पद होने पर तीन पदों का एक क्रम पद होता है।

15. एकादेश, स्वर सन्धि, दीर्घत्व और मूर्धन्य इसके बाद के प्रयोजन है।

16. आ तथा ओ परवर्ती पद के साथ संहित होकर पदक्रम के प्रारम्भ में आ जाते हैं।

17. उकार का परिहार किया जाता है।

18. प्रगृह्य, अवगृह्य, समापाद्य तथा अवसान में स्थित पदों का इति मध्य में होने पर परिहार होता है।

19. उकार का परिहार करते समय दो बार इति को जोड़ा जाता है।

20. अनुनासिक तथा दीर्घ होने के कारण उकार का परिहार करते समय दो बार इति को जोड़ा जाता है।

21. परिहार में प्लुत का अप्लुतवत् उच्चारण किया जाता है।

21. अनुनासिक को प्रथम बार शुद्ध (निरनुनासिक) कर दिया जाता है।

22. सन्धि के सामान्य नियमों के अनुसार पदों का सन्धान करना चाहिए।

23. अवग्रह से युक्त प्रगृह्यपद पुनरुच्चारण में क्रमपाठ के समान मध्य में अवग्रह रख कर करना चाहिए।

24. अवसान में आने वाले जिस समापाद्य पद के विकार का निमित्त स्वयं पद में ही है, उसका उच्चारण (इति के पूर्व में) संहितावत् किया जाता है।

25. यह पुनर्कथन आस्थापित संज्ञक होता है।

26. आस्थापित संज्ञक में एक क्रमपद का परिहार किया जाता है।

परिशिष्ट-3

चतुरध्यायिका की सूत्र-सारिणी

प्रथम अध्याय

प्रथम पाद

चतुर्णा पदजातानां नामाख्यातोपसर्गनिपातानां सन्ध्यपद्यौ गुणै प्रातिज्ञम्।।1।।

एवमिहेति च विभाषाप्राप्तं सामान्ये।।2।।

पदान्त्यः पद्यः।।3।।

अन्लृकारः स्वरः पद्यः।।4।।

लकारविसर्जनीयौ च।।5।।

स्पर्शाः प्रथमोत्तमाः।।6।।

न चवर्गः।।7।।

प्रथमान्तानि तृतीयान्तानीति शौनकस्य प्रतिज्ञानं न वृत्तिः।।8।।

अधिस्पर्शं च।।9।।

द्वितीयचतुर्थाः सोष्माणः।।10।।

उत्तमा अनुनासिकाः।।11।।

श्वासोऽज घोषेष्वानुप्रदानः।

नादो घोषवत्स्वरेषु।।12/13।।

समानयमेऽक्षरमुच्चैरुदात्तम्। नीचैरनुदात्तम्। आक्षिप्तं स्वरितम्।।14/15/16।।

स्वरितस्यादितो मात्रार्धमुदात्तम्।।17।।

मुखे विशेषाः करणस्य।।18।।

कण्ठ्यानामधरकण्ठः।।19।।

जिह्वामूलीयानां हनुमूलम्।।20।।

तालव्यानां मध्यजिह्वम्।।21।।

मूर्धन्यानां जिह्वाग्रं प्रतिदेष्ठितम्।।22।।

तकारस्य द्रोणिका।।23।।

दन्त्यानां जिह्वाग्रं प्रस्तीर्णम्।।24।।

ओष्ठ्यानामधरोष्ठम्।।25।।

नासिक्यानां नासिका।।26।।

अनुनासिकानां मुखनासिका।।27।।

रेफस्य दन्तमूलानि।।28।।

स्पृष्टं स्पर्शानां करणम्।।29।।

इषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम्।।30।।

उष्मर्णां विवृतं च।।31।।

स्वराणां च ।।32।।

एके स्पृष्टम्।।33।।

एकारोकारयोर्विवृततमम्।।34।।

ततोऽप्याकारस्य।।35।।

संवृतोऽकारः।।36।।

संस्पृष्टरेफमृवर्णम्।।37।।

दीर्घप्लुतयोः पूर्वा मात्रा।।38।।

सलकारम् लृवर्णम्।।39।।

संध्यक्षराणि संस्पृष्टवर्णान्येकवर्णवद्वृत्तिः।।40।।

नैकारौकारयोः स्थानविधो।।41।।

द्वितीय पाद

विसर्जनीयोऽभिनिष्ठानः।।1।।

व्यञ्जनविधारणमभिनिधानः पीडितः सन्नतरो हीनश्वासनादः।।2।।

स्पर्शस्य स्पर्शेऽभिनिधानः।।3।।

पदान्तावग्रह्योश्च।।4।।

लकारस्योष्मसु।।5।।

ञङणानां हकारे।।6।।

आस्थापितं च।।7।।

अतोऽन्यत्संयुक्तम्।।8।।

पूर्वरुपस्य मात्रार्धं समानकरणं परम्।।9।।

ह्रस्वं लघ्वसंयोगे।।10।।

गुर्वन्यत्, अनुनासिकं च, पदान्ते च।।11-13।।

परस्य स्वरस्य व्यञ्जनानि, संयोगादि पूर्वस्य।।14-15।।

पद्यं च, रेफहकारक्रमजं च, एकमात्रो ह्रस्वः।।16-18।।

व्यञ्जनानि च, द्विमात्रो दीर्घः, त्रिमात्रः प्लुतः।।19-21।।

तृतीय पाद

षट्पुरसोरुकारोऽन्त्यस्य दशदाशयोरादेशश्च मूर्धन्यः।।1।।

कृपे रेफस्य लकारः।।2।।

न कृपादीनाम्।।3।।

लकारस्य रेफः पादमङ्गुलिमित्येवमादीनाम्।।4।।

नकारमकारयोर्लोपे पूर्वस्यानुनासिकः।।5।।

यरोष्मापत्तौ च।।6।।

अनुनासिकस्य च पूर्वेणेकादेशे।।7।।

पुरुष आ वभूवां इत्यवसाने।।8।।

ऋवर्णस्य रेफात्परं यत्।।9।।

उकारस्येतावपृक्तस्य।।10।।

दीर्घः प्रगृह्यश्च।।11।।

ईकारोकारो च सप्तम्यर्थे।।12।।

द्विवचनान्तौ।।13।।

एकारश्च।।14।।

अस्मे युष्मे त्वे में इति चोदात्ताः।।15।।

अमी बहुवचनम्।।16।।

निपातोऽपृक्तोऽनाकारः।।17।।

ओकारारान्तश्च।।18।।

आमन्त्रितं चेतावनार्षे।।19।।

आर्त्नी इवादिष्विवादितिः परः।।20।।

अनुनासिकोऽन्तःपदे ह्रस्वः।।21।।

दीर्घो नपुंसकबहुवचने।।22।।

पांसुमांसादीनाम्।।23।।

हनिगम्योः सनि।।24।।

शान्मान्दानाम्।।25।।

वस्वन्तस्य पञ्चपद्याम्।।26।।

ईयसश्च।।27।।

विदेश्च।।28।।

पुंसश्च।।29।।

चतुर्थ पाद

वर्णदन्त्यात्पूर्व उपधा।।1।।

स्वरोऽक्षरम्।।2।।

सोष्मणि पूर्वस्यानुष्मा।।3।।

आन्तर्येण वृत्तिः।।4।।

खण्डवखा3इ खैमखा3इ इत्याकारादिकारोऽनुदात्तः।।5।।

अवशा आबभूवाँ इतीतावेकारोऽप्लुतः।।6।।

व्यञ्जनानान्यव्यवेतानि स्वरैः संयोगः।।7।।

समानपदेऽनुत्तमात्स्पर्शादुत्तमे यमैर्यथासंख्यम्।।8।।

हकाराद्गासिक्येन।।9।।

रेफादुष्मणि स्वरपरे स्वरभक्तिरकारस्यार्धं चतुर्थमित्येके अन्यस्मिव्यञ्जने चतुर्थम् वा।।10-11।।

तदेव स्फोटनः।।12।।

पूर्वस्वरं संयोगाविघातश्च।।13।।

खण्वखा3इ खैमखा3इ मध्ये तदु रि। इदं भूया3 इदा3मिति। ऊर्ध्वो नु सृष्टा3स्तिर्यङ् नु सृष्टा3ः सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवा3। पराञ्चमोदनं प्राशी3ः प्रत्यञ्चा3मिति। त्वमोदनं प्राशी3स्त्वामोदना3 इति। वशेया3मवशेऽति। यत्तदासीऽदिदं नु ता3दिति। इति प्लुतानि।।14।।

परिपाठ एतावत्स्वर्थेऽपि।।15।।

बहुविधास्त्रिविधाप्लुतयो भवन्ति। स्वपरा अभिनिष्ठानपरा व्यञ्जनपराः।।16-17।।

तासां या समानाक्षरपरास्ता इतावप्लुवद्भवन्ति।।18।।

इत उत्तरमधिकम्।।19।।

द्वितीय अध्याय

प्रथम पाद

संहितायाम्।।1।।

पदान्तानामनुत्तमानां तृतीया घोषवत्स्वरेषु।।2।।

पदान्ते चाघोषाः।।3।।

अघोषेषु च।।4।।

उत्तमा उत्तमेषु।।5।।

द्वितीयाः शषसेषु।।6।।

तेभ्यः पूर्वचतुर्थो हकारस्य।।7।।

सकारात्सकारे तकारेण।।8।।

ङणनेभ्यः कटतैः शषसेषु।।9।।

नकारस्य शकारे ञकारः।।10।।

चवर्गीये घोषवति।।11।।

टवर्गीये णकारः।।12।।

तकारस्य शकारलकारयोः परसस्थानः।।13।।

चटवर्गयोश्च।।14।।

ताभ्यां समानपदे तवर्गीयस्य पूर्वसस्थानः।।15।।

षकारान्नानापदेऽपि।।16।।

तवर्गीयाच्छाकारः शकारस्य।।17।।

लोप उदः स्थास्तम्भोः सकारस्य।।18।।

रेफस्य रेफे।।19।।

स्पर्शादुंमादनुत्तमस्यानुत्तमे।।20।।

स्वराद्यवयोः पदान्तयोः।।21।।

नाकाराद्वकारस्य।।22।।

गविष्टौगवेषण इति च।।23।।

लेशवृत्तिरधिस्पर्शं शाकटायनस्य।।24।।

पुमो मकारस्य स्पर्शेऽघोषेऽनुष्मपरे विसर्जनीयोऽपुंश्चादिषु।।25।।

नकारस्य चटतवर्गेष्वघोषेष्वनूष्मपरेषु विसर्जनीयः।।26।।

आकारोपधस्योपबद्धाद्धीनां स्वरे।।27।।

वृक्षाँ वनानीति वकारे।।28।।

नाम्युपधस्य रेफ ऋतूँरुत्सृजते वशीत्येवमादीनाम्।।29।।

न समैरयन्तादीनाम्।।30।।

मकारस्य स्पर्शे परसस्थानः।।31।।

अन्तःस्थोष्मसु लोपः।।32।।

ऊष्मस्वेवान्तःपदे।।33।।

नकारस्य च।।34।।

उभयोर्लकारे लकारोऽनुनासिकः।।35।।

न समो राजतौ।।36।।

सन्ध्ये च वकारे।।37।।

वर्गविपर्यये स्फोटनः पूर्वेण चेद्विरामः।।38।।

न टवर्गस्य चवर्गे कालविप्रकर्षस्त्वत्र भवति तमाहु कर्षण इति।।39।।

द्वितीय पाद

विसर्जनीयस्य परसस्थानोऽघोषे।।1।।

स्वरे यकारः।।2।।

नाम्युपधस्य रेफः।।3।।

घोषवति च।।4।

आवः करकश्च विवरबिभरसर्वनाम्नः।।5।।

द्वार्वारिति।।6।।

अजहातेरहाः।।7।।

एकामिन्त्रिते रौद्विवचनान्तस्य।।8।।

अन्तःपुनःप्रातःसनुतः स्वरव्ययानाम्।।9।।

स्वर्षाश्च।।10।।

अहर्नपुंसकम्।।11।।

न विभक्तिरुपरात्रिरथन्तरेषु।।12।।

अधोऽम्नोभुवसाम्।।13।।

अकारोपधस्योकारोऽकारे।।14।।

घोषवति च।।15।।

आकारोपधस्य लोपः।।16।।

शेपहर्षणीं वन्दनेव वृक्षम्।।17।।

एष स व्यञ्जने।।18।।

न सस्पदीष्ट।।19।।

दीर्घायुत्वायाविषु।।20।।

तृतीय पाद

दुर उकारो दाशे परस्य मूर्धन्यः।।1।।

शुनि तकारः।।2।।

समासं सकारः कपयोरनन्तःसद्यः श्रेयश्छन्दसाम्।।3।।

निर्दुराविर्हविरसमासेऽपि।।4।।

त्रिः।।5।।

कुरुकरंकरत्कृणोतुकृतिकृधिष्वकर्णयोः।।6।।

ततस्परो ब्रह्मपरे।।7।।

पञ्चम्याङ्गेभ्यः पर्यादिवर्जम्।।8।।

दिवस्पृथियां सचतिवर्जम्।।9।।

पृष्ठे च।।10।।

यः पतो गवामस्याःपरवर्जम्।।11।।

षष्ठ्याश्चाशच्याः।।12।।

इडायास्पदे।।13।।

पितुः पितरि।।14।।

द्यौश्च।।15।।

आयुः प्रथमे।।16।।

प्रे मुषिजीवपरे।।17।।

परिधिः पतातौ।।18।।

निवतस्पृणातौ।।19।।

मनस्पापे।।20।।

रायस्पोषादिपु च।।21।।

चतुर्थ पाद

अत्र नाम्युपधस्य षकारः।।1।।

सहेः साड्भूतस्य।।2।।

तद्धिते तकारादौ।।3।।

युष्मदादेशे तैस्त्वमादिवर्जम्।।4।।

तत्तामग्रादिषु च।।5।।

स्तृतस्वस्वपिषु।।6।।

नामिकरेफात्प्रत्ययसकारस्य।।7।।

स्त्रैषूयम्।।8।।

नलोपेऽपि।।9।।

उपसर्गाद्धातोः।।10।।

अभ्यासाच्च।।11।।

स्थासहिसिचीनामकारव्यवायेऽपि।।12।।

अभ्यासव्यवायेऽपि स्थः।।13।।

परमेभ्योऽनापाके।।14।।

अपसव्याभ्यां च।।15।।

अग्नेः स्तोमसोमयोः।।16।।

सुञः।।17।।

त्र्यादिभ्यः ।।18।।

एकारान्तात्सदेः।।19।।

बर्हिपथ्यप्सुदिविपृथिवीति च।।20।।

हिदिविभ्यामस्ते।।21।।

न सृपिसृजिस्पृशिस्फुर्जिस्वरतिस्मरतीनाम्।।22।।

गोसन्यादीनां च।।23।।

अध्यभिभ्यां स्कन्दे।।24।।

परेः स्तृणातेः।।25।।

रेफपरस्य च।।26।।

अभि स्याम पृतन्यतः।।27।।

तृतीय अध्याय

प्रथम पाद

सहावाडावन्ते दीर्घः।।1।।

अष्ट पदयोगपक्षपर्णदंष्ट्रचक्रेषु।।2।।

व्यधावप्रत्यये।।3।।

उञ् इदमुष्वादिषु।।4।।

ओषधेरपञ्चपद्याम्।।5।।

जीवन्तीमोषधीम्।।6।।

साढः।।7।।

बहुलं रात्रेः।।8।।

विश्वस्य नरवसुमित्रेषु।।9।।

शुनः पदे।।10।।

उपसर्गस्य नामिनो दस्ति।।11।।

वर्तादिषु।।12।।

अकारस्याभ्यासस्य बहुलम्।।13।।

जीहीडाहम्।।14।।

साह्याम।।15।।

विद्मादीनां शरादिषु।।16।।

बहुलं मतौ।।17।।

इडायां च यकारादौ।।18।।

तृतीयान्तस्य।।19।।

रलोपे।।20।।

नारकादीनां प्रथमस्य।।21।।

दीदायादीनां द्वितीयस्य।।22।।

सात्रासाहादीनामुत्तरपदाद्यस्य।।23।।

ऋत वृधवरीवानेषु।।24।।

अधः त्यंधीःपवर्जम्।।25।।

द्वितीय पाद

पदान्ते व्यञ्जनं द्विः।।1।।

ङणना ह्रस्वोपधाः स्वरे।।2।।

संयोगादि स्वरात्।।3।।

नकारस्य च।।4।।

पिप्पल्यादिषु।।5।।

न विसर्जनीयः।।6।।

सस्थाने च।।7।।

रेफहकारौ परं ताभ्याम्।।8।।

शषसाः स्वरे।।9।।

प्रगृह्याश्च प्रकृत्या।।10।।

एना एहा आदयश्च।।11।।

यवलोपे।।12।।

केवल उकारः स्वरपूर्वः।।13।।

नमो संध्यौ।।14।।

आकारः केवलः प्रथमं पूर्वेण।।15।।

स्वरे नामिनो ऽन्तःस्था।।16।।

संध्यक्षराणामयवायावः।।17।।

पूर्वपरयोरेकः।।18।।

समानाक्षरस्य सवर्गे दीर्घः।।19।।

सीमन्ते ह्रस्वः।।20।।

वर्णस्येवर्ण एकारः।।21।।

उवर्ण ओकारः।।22।।

अरमृवर्णे।।23।।

उपर्षन्त्यादिषु च।।24।।

उपसर्गस्य धात्वादावारम्।।25।।

भूतकरणस्य च।।26।।

एकारैकारयोरैकारः।।27।।

ओकारौकारयोरौकारः।।28।।

शकल्येष्यादिषु पररूपम्।।29।।

एकारौकारान्तात्पूर्वः पदादेरकारस्य।।30।।

क्वचित्प्रकृत्या।।31।।

तृतीय पाद

षडेव स्वरितजातानि लक्षणानि प्रतिजानते।।1।।

अभिनिहितः प्राश्लिष्ट जात्यः क्षैप्रश्च तावुभौ।
तैरोव्यञ्जनपादवृत्तवेतत्स्वरमण्डलम्।।2।।

पूर्वं पूर्वं दृढतरं मृदीयो यद्यदुत्तरम्।।3।।

सर्वतीक्ष्णोऽभिनिहितः ततः प्राश्लिष्ट उच्यते।।4।।

ततो मृदुतरो स्वारौ जात्यः क्षैप्रश्च तावुभौ।।5।।

ततो मृदुतरः स्वारः तैरोव्यञ्जन उच्यते।।6।।

पादवृतो मृदुतरः।।7।।

इति स्वारबलाबलम्।।8।।

अपरः प्राह तैरोव्यञ्जन पादवृतौ तुल्यवृत्तीति।।9।।

उदात्तपूर्वो परोऽनुदात्तःस्वरितसन्धिः।।10।।

एकारौकारौ पदान्तौ परतोऽकारं सोऽभिनिहितः।।11।।

इकारयोः प्राश्लिष्टः।।12।।

ऊकारस्य सर्वत्र।।13।।

ओण्योश्च।।14।।

व्यञ्जनव्यवेतस्तैरोव्यञ्जनः।।15।।

अनुदात्तपूर्वात्संयोगाद्यवान्तात्स्वरितं परमपूर्वं वा जात्यः।।16।।

अन्तःस्थापत्तावुदात्तस्यानुदात्ते क्षेप्रः।।17।।

अन्तःपदेऽपि पञ्चपद्याम्।।18।।

विवृत्तो पादवृत्तः।।19।।

अवग्रहे सविधः।।20।।

अभिनिहितप्राश्लिष्टजात्यक्षैप्राणामुदात्तस्वरितोदयानामणुमात्रा निघाता विकम्पितं तत्कवयो वदन्ति।।21।।

एकादेश उदात्तेनोदात्तः।।22।।

उदात्तादनुदात्तं स्वर्यते।।23।।

व्यासेऽपि समानपदे।।24।।

अवग्रहे च।।25।।

नोदात्तस्वरितपरम्।।26।।

स्वरितादनुदात्त उदात्तश्रुतिः।।27।।

व्यासेऽपि समानपदे।।28।।

अवग्रहे च।।29।।

स्वरितोदात्तेऽनन्तरमनुदात्तम्।।30।।

अस्वराणि व्यञ्जनानि। स्वरवन्तीत्यान्यतरेयः।।31-32।।

सन्धेः स्वरितम्। पूर्वरूपामित्यान्यन्तरेवः।।33-34।।

उत्तररूपं शाङ्खमित्रिः। स्वरस्य स्वर्यमाणस्य स्वर्थते।।35-36।।

अर्धं ह्रस्वस्य पादं दीर्घस्य इत्येके।।37।।

सर्वमिति शाङ्खमित्रिः।।38।।

अक्षरस्यैव विधानः विद्यते यद्विस्वरीभावः।।39।।

ऋगर्धर्चपदान्तावग्रहविवृत्तिषु मात्राकालः विरामः।।40।।

चतुर्थ पाद

ऋवर्णरेफषकारेभ्यः समानपदे नो णः।।1।।

पूर्वपदाद्वुषणादीनाम्।।2।।

अकारान्तादह्नः।।3।।

विभक्त्यागमप्रातिपदिकान्तस्य।।4।।

उपसर्गाद्धातोर्नानापदेऽपि।।5।।

प्रपराभ्यामेनः।।6।।

प्रपरिभ्यां नः।।7।।

आशीरुरुष्वगृहेषुशिक्षेभ्यश्च।।8।।

नशश्च।।9।।

धातुस्थाद्यकारात्।।10।।

उरु।।11।।

ब्रह्मण्वत्यादीनाम्।।12।।

निपातस्य च।।13।।

पूनर्णफयामसि।।14।।

नवतेश्च।।15।।

पूर्याणः।।16।।

दुर्णाम्नः।।17।।

अवग्रहादृकारात्।।18।।

न मिनाति।।19।।

भानोश्च।।20।।

परेर्हिनोतेः।।21।।

पदान्तस्पर्शयुक्तस्य।।22।।

नशेः षान्तस्य।।23।।

स्वरलोपे हन्ते।।24।।

क्षुभ्नादीनाम्।।25।।

व्यवाये शसलैः।।26।।

पटतवर्गैश्च।।27।।

पदेनावर्जिते च।।28।।

तुविष्टमः।।29।।

चतुर्थ अध्याय

प्रथम पाद

समासावग्रहविग्रहान्पदे यथोवाच इन्दसि शाकटायनः।
तथा प्रवक्ष्यामि।।1-2।।

चतुष्ट्यं पदम्। नामाख्यातोपसर्गनिपाताः।।3-4।।

आख्यातं यत्क्रियावाचि। नाम सत्वाख्यमुच्यते।।5-6।।

निपाताश्चादयः सर्वे। उपसर्गास्तुप्रादयः।।7-8।।

नाम नाम्नानुदात्तेन समस्तम्। प्रकृतिस्वरम्।।9-10।।

न युष्मद्वचनानि। न चामन्त्रितमिष्यते।।11-12।।

नामानुदात्तं प्रकृतिस्वरो गतिः। अनुच्चोवा नाम चेत्स्यादुदात्तम्।।13-14।।

क्रियायोगे गतिपूर्वः समासोऽयम्।
यावन्तोऽनुच्चा समर्थास्तान् समस्येत्।।15-16।।

यत्रानेकोऽप्यनुच्चोऽस्ति परश्च प्रकृतिस्वरः।
आख्यातं नाम वा यत्स्यात् सर्वमेव समस्यते।।17-18।।

सोपसर्गं तु यन्नीचैः पूर्वं वा यदि वा परम्।
उदात्तेन समस्यन्ते यथैतत्सुप्रतिष्ठितम्।।19-20।।

उदात्तस्तु निपातो यः सानुदात्तः क्वचिद् भवेत,
समस्यते यथाविधम्। इतिहासो निदर्शनम्।
नघारिषां सुसहेत्येवमादीन्युदाहरेत्।।21-23।।

सहेत्यनेनानुदात्तं परं नाम समस्यते।।24।।

अनुदात्तेन चोदात्तस्वभावो यत्र चोच्यते।
सहसूक्तवाकः सान्तर्देशा शतक्रतुः निदर्शनम्।।25-26।।

अनुदात्तोऽनु गतिर्मध्ये श्वपरौ प्रकृतिस्वरौ।
पूर्वेण विग्रहस्तत्र। पुरुषेऽधि समाहिते।।27-28।।

अनुदात्तोऽनु गतिर्यत्रानुदात्तं परंपदम्।
पूर्वेण विग्रहस्तत्र संसुभूत्या निदर्शनम्।।29-30।।

यत्रोभे प्रकृति स्वरे पूर्वं यच्च परं च यत्।
वर्णपित्वाद्युदात्तानि सर्वमेव समस्यते।।31-32।।

नाख्यातानि समस्यन्ते।।33।।

ना चाख्यातं नाम च।।34।।

नाम नाम्नापसर्गैस्तु सम्बन्धार्थं समस्यते।।35।।

न युष्मदास्मदादेशा अनुदात्तात्स्वरात्परे
नामोपसर्गगतिभिः समस्यन्ते कदाचन।
मामनु प्रते प्रवामित्येवमादीन्युदाहरेत्।।36-38।।

एतदश्चानुदात्तानीदमश्च तथैव च।
नामोपसर्गगतिभिः समस्यन्ते कदाचन।
बृहन्नेषां य एनां वनिमायन्ति र्ण्येनाम्पर्यस्येति निदर्शनम्।।39-41।।

अनुदात्तोऽनुगतिः सर्वैः समस्तः स्वरितादिभिः।
संस्राव्येण दुरमण्य आचार्यैति निदर्शनम्।।42-43।।

प्रपराणि समा दुनिवाधि परिवीति च।
अत्यम्भयपि सूदपा य उपानु प्रतिविंशति।।44-45।।

एकाक्षरा उदात्ताः। आद्युदात्तास्तथापरे।।46-47।।

अभीत्यन्तः। उपसर्गाः क्रियायोगे गतिस्तथा।।48-49।।

आद्युदात्ता दशैलेषाम्। उच्चा एकाक्षरा नव।
विंशतेरूपसर्गाणामन्तोदात्तस्त्वभीत्यमम्।।50-52।।

अच्छारमस्तं हस्तो लाङ्गूलं तिरः पुरः पुनर्णमः
श्येनी वाती फली हिं स्रुग्वषट् प्रादुरुलाककजा स्वाहा
स्वधा श्रत्स्वररला इत्युपसर्गवृत्तीनि यथाम्नातः स्वराणि।।53।।

उपसर्ग आख्यातेनोदात्तेन समस्यते।।54।।

अनेकोऽनुदात्तेनापि।।55।।

अनर्थकर्मप्रयचनीयान्युक्तैर्विग्रहोऽभिवितन्वादिषु।।56।।

पूर्वेणाभिविपश्यान्यादिषु।।57।।

यौनावध्यैरयन्तादिषु च।।58।।

आशीर्बभूवेति प्लुतस्वरस्य सिद्धत्वात्।।59।।

पूर्वेणावग्रहः।।60।।

यातुमावत्।।61।।

समासे च।।62।।

उपजाते परेण।।63।।

सुप्रव्या च।।64।।

अनिङ्ग्येन पूर्वेणं।।65।।

तद्धिते धा।।66।।

त्राकारान्ते।।67।

शथानेकातरेण।।68।।

तरतमयोः।।69।।

मतौ।।70।।

वकारादौ च।।71।।

शसि वीप्सायाम्।।72।।

तातिलि।।73।।

उभयाद् द्युभि।।74।।

मात्रे च।।75।।

विश्वाद्दानीमि।।76।।

मयेऽसकारात्।।77।।

के व्यञ्जनात्।।78।।

त्वे चान्तोदात्ते।।79।।

कृत्वे समासो वा नानापददर्शनात्।।80।।

जातीयादिषु च।।81।।

यादाविच्छायां स्वरात्कर्मनामतन्मानिप्रेप्सुषु।।82।।

वस्ववस्वप्रसुन्नसाधुभिर्या।।83।।

भिर्भ्याभ्यःसु।।84।।

सौ च।।85।।

न दीर्घात्।।86।।

विनामे च।।87।।

वसौ ह्रस्वात्।।88।।

तेनैवोपसृष्टेऽपि।।89।।

उपसर्गेणावकारे।।90।।

समन्तःपूरणे।।91।।

अनतो विसंभ्यां प्राणाख्या चेत्।।92।।

काम्याम्रंहितयोः।।93।।

इवे च।।94।।

मिथोवगृह्योर्मध्यमेन।।95।।

समासयोश्च।।96।।

द्विरुक्ते चावगृह्ये।।97।।

वसुधातरः सहस्रसातमेति वसुसहस्राभ्याम्।।98।।

सुभिषक्तमस्तमे।।99।।

द्वितीय पाद

न तकारसकाराभ्यां मत्वर्थे।।1।।

यत्तदेतेभ्यो वतौ।।2।।

दवताद्वन्द्वे च।।3।।

यस्य चोत्तरपदे दीर्घो व्यञ्जनादौ।।4।।

षोडशी संदेहात्।।5।।

अहोरात्रे।।6।।

अञ्चतिजरत्पर्वसुं।।7।।

समुद्रादिषु च।।8।।

वृद्धेनैकाक्षरेण स्वरान्तेन।।9।।

अवर्णान्तेनैकाक्षरेण प्रतिषिद्धेनाप्रयावादिवर्जम्।।10-11।।

प्राणति प्राणन्ति।।12।।

संपरिभ्यां सकारादौ करोतौ।।13।।

सर्वस्मिन्नेवागमसकारादौ तुविष्टमवर्जम्।।14-15।।

विश्पतिर्विश्पत्नी।।16।।

ददातौ च तकारादौ।।17।।

उदो हन्तिहरतिस्थास्तम्भिषु।।18।।

दधातौ च हकारादौ।।19।।

जास्पत्यम्।।20।।

मनुष्यत्।।21।।

त्रेधा।।22।।

संज्ञायाम्।।23।।

व्यधौ।।24।।

दृशौ सर्वनाम्नैकारान्तेन।।25।।

सहावाडन्ते।।26।।

अव्ययानाम्।।27।।

आशा दिशि।।28।।

तृतीय पाद

प्रकृतिदर्शनं समापत्तिः।।1।।

षत्वणत्वोपाचारदीर्घदुत्वलोपान्पदानां चर्चापरिहारयोः समापत्तिः।।2।।

पृथक्पदनिमित्तानां च।।3।।

इङ्ग्यानाम्।।4।।

अन्येनापि पर्वणा।।5।।

क्रमे परेण विगृह्यात्।।6।।

दीर्घस्य विरामे।।7।।

चतुरात्रोऽवग्रह एव।।8।।

पदान्तविकृतानाम्।।9।।

अभ्यासविनतानां च।।10।।

स्त्रैषूर्यं नार्षदेन दुष्ठरं त्रैष्टुभं त्रैहायणाज्जास्पत्यम्।।11।।

अभ्यासस्य परोक्षायाम्।।12।।

वावृधानप्रभृतीनां च।।13।।

कृपिरुपिरिषीणामनह्वानाम्।।14।।

जीहीडाहम्।।15।।

साह्याम।।16।।

दीदायत्।।17।।

नारकादीनाम्।।18।।

च्यावयतेः कारितान्तस्य।।19।।

वावयतेराख्याते।।20।।

वनियमिश्रथिग्लापि।।21।।

नाष्टनः।।22।।

हिनोतेः।।23।।

बोधप्रतीबोधौ केसरप्राबन्धाया अभ्यघायन्ति पनिष्पदातिष्ठिपं दाधार जागार मीमायेति।।24।।

प्रपणः प्रणतेरेव ।।25।।

एदमूष्वादिषु पदत्वात्।।26।।

ब्रह्मण्वत्यादीनाम्।।27।।

दीर्घायुत्वादीनां च।।28।।

चतुर्थ पाद

वेदाध्ययनं धर्मः।।1।।

प्रेत्य ज्योतिष्टवं कामयमानस्य।।2।।

याज्ञिकैर्यथासमाम्नातम्।।3।।

यज्ञततिर्न पृथग्वेदेभ्यः।।4।।

यज्ञे पुनर्लोकाः प्रतिष्ठिताः।।5।।

पञ्चजना लोकेषु।।6।।

पदांध्ययनमन्तादिषग्वस्वरार्थज्ञानार्थम्।।7।।

संहिता द्राढ्यार्थम्।।8।।

क्रमाध्ययनं संहितापददाढ्यार्थम्।।9।।

स्वरोपजनश्चादृष्टः पदेषु संहितायां च।।10।।

द्वे पदे क्रमपदम्।।11।।

तस्यान्तेन परस्य प्रसंधानम्।।12।।

नान्तगतं परेण।।13।।

त्रीणि पदान्यपृक्तमध्यानि।।14।।

एकादेशस्वरसंधिदीर्घविनामाः प्रयोजनम्।।15।।

आकारोकारादि पुनः।।16।।

उकारः परिहार्य एव।।17।।

प्रगृह्यावगृह्यसमापाद्यान्तगतानां द्विर्वचनं परिहार इतिमध्ये।।18।।

द्वाभ्यामुकारः।।19।।

अनुनासिकदीर्घत्वं प्रयोजनम्।।20।।

प्लुतश्चाप्लुतवत्।।21।।

अनुनासिकः पूर्वश्च शुद्धः।।22।।

यथाशास्त्रं प्रसन्धानम्।।23।।

प्रगृह्यावगृह्यचर्चायां क्रमवदुत्तरस्मिन्नवग्रहः।।24।।

समापाद्यानामन्ते संहितावद्वचनम्।।25।।

तस्य पुनरास्थापितं नाम।।26।।

स एकपदः परिहार्यश्च।।27।।

परिशिष्ट 4

चतुरध्यायिका के पारिभाषिक शब्दों की सूची

अक्षर	–	व्यञ्जन से युक्त स्वर वर्ण अथवा केवल स्वर वर्ण।
अङ्ग	–	उदात्तादि स्वरों की दृष्टि से व्यञ्जन का स्वर वर्ण का अंग होना।
अघोष	–	नादरहित वायु से उच्चरित होने वाले वर्गों के प्रथम दो वर्ण।
अणु	–	1/4 मात्रा काल।
अधिस्पर्श	–	पदान्त य्, व्।
अनर्थक	–	अभिन्नार्थक (समानार्थक) अधि, परि।
अनिङ्ग्य	–	पदपाठ में अनवगृह्य पद।
अनुदात्त	–	उच्चारणावयवों के अधोगमन से उच्चरित स्वर।
अनुनासिक	–	वर्गों के पञ्चम वर्ण, अनुनासिक स्वर, अनुनासिक अन्तःस्था, मुख और नासिका से उच्चरित होने वाले वर्ग।
अनुप्रदान	–	वर्णोच्चारण में बाह्य प्रयत्न श्वास तथा नाद।
अन्तःस्था	–	य्, र्, ल्, व् वर्ण।
अपवाद	–	सामान्य नियम का विरुद्ध वचन अर्थात् विशेष नियम।

अपृक्त	–	किसी अक्षर से न मिला हुआ अर्थात् एक अक्षर वाला पद।
अभिनिधान	–	वर्ण को पृथक् करके उसकी ध्वनि को दबाकर अस्पष्ट उच्चारण करना।
अभिनिष्ठान	–	विसर्जनीय का वाचक पद।
अभिनिहित स्वरित	–	उदात्त के बाद में विद्यमान अनुदात्त के स्थान पर अभिनिहित (पूर्वरूप) सन्धि के परिणामस्वरूप निष्पन्न होने वाला स्वरित।
अवग्रह	–	(ऽ) इस चिह्न के द्वारा पृथक्करण।
अवसान	–	मन्त्रों में होने वाला विरामस्थल।
आक्षिप्त	–	उच्च ध्वनि से निम्न ध्वनि की ओर जाने से निष्पन्न स्वर-स्वरित।
आख्यात	–	क्रिया का वाचक पद।
आगम	–	दो वर्णों के मध्य में अतिरिक्त वर्ण का आ जाना।
आन्प्रद	–	पूर्ववर्ती आ तथा परवर्ती पदादि स्वर के मध्य में विद्यमान नकार का लोप।
आस्थापित	–	अभिनिधान का वाचक पद।
आम्रेडित	–	पुनः उच्चारित पद।
इङ्ग्य	–	पद-पाठ में अवग्रह से पृथक् किया गया पद।
ईषद्विवृत	–	ऊष्म-वर्णों (श, ष, स, ह) का आभ्यन्तर-प्रयत्न। इनके उच्चारण में मुख-विवर थोड़ा खुला रहता है।
ईषत्स्पृष्ट	–	अन्तःस्था वर्णों (य्, र्, ल्, व्) का

		आभ्यन्तर प्रयत्न। (इनके उच्चारण में उच्चारणावचनों का थोड़ा सा स्पर्श होता है)।
उत्तम	–	वर्गों के अन्तिम वर्ण- ङ्, न्, ण्, न्, म्।
उदय	–	अव्यवहित परवर्ती वर्ण।
उदात्त	–	उच्चारणावयवों के ऊपर जाने से उच्चारित स्वर।
उदात्तश्रुति	–	स्वरित के बाद में विद्यमान तथा उदात्त के समान उच्चारित होने वाला स्वर अर्थात् प्रचय।
उपधा	–	अन्तिम वर्ण से अव्यवहित पूर्ववर्ती वर्ण।
उपसर्ग	–	नाम तथा आख्यात के सम्पर्क में आकर अर्थ को प्रकाशित करने वाले प्र इत्यादि पद।
उष्मन्	–	श्, ष्, स्, ह्, वर्ण।
ऋचा	–	पादवद्ध मन्त्र।
ओष्ठ्य	–	ओष्ठ से उच्चारित होने वाले अ, आ प्रभृति वर्ण।
कम्प	–	जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट आदि स्वरित स्वरों के बाद उदात्त या स्वरित आने पर विकम्पित उच्चारण।
करण	–	(1) वर्णों के उच्चारण में आभ्यन्तर प्रयत्न। (2) वर्णोच्चारण में सक्रिय मुखावयव।
कर्मप्रवचनीय	–	उपसर्गों की तरह काम में आने वाले किन्तु उनसे भिन्न तथा अन्य अर्थ वहन करने

वाले-अति, अनु, अभि, उप, परि, प्रति निपात कर्मप्रवचनीय संज्ञक होते हैं।

कर्षण – टवर्ग तथा चवर्ग का संयोग होने पर टवर्गीय स्पर्शों का उनके काल से अधिक लम्बा उच्चारण करना।

कार – स्वर और व्यञ्जन वर्णों की आख्या।

क्रम – वर्ण का द्विच्चारण।

क्रमज – क्रम (द्विरुक्ति से उत्पन्न वर्ण)।

क्रम-पाठ – दो-दो पदों का अव्यवहित उच्चारण।

क्षैप्र स्वरित – उदात्त के बाद में आने वाले अनुदात्त के स्थान पर क्षैप्र सन्धि के परिणामस्वरूप निष्पन्न होने वाला स्वरित।

गुरु – लघुसंज्ञक अक्षरों के उच्चारण की अपेक्षा अधिक समय में उच्चरित होने वाला वर्ण, (अनुनासिक वर्ण तथा पदान्त में स्थित वर्ण भी गुरु संज्ञक होते हैं)।

घोषवत् – अघोषव्यतिरिक्त शेष वर्णराशि।

चर्चा – पदपाठ में इति को मध्य में रखकर किसी पद का दो बार उच्चारण करना।

टुत्व – तकार का मूर्धन्यभाव।

णत्व – नकार का मूर्धन्यभाव।

जात्यस्वरित – स्वाभाविक स्वरित, जिसके पूर्व में उदात्त नहीं होता है।

जिह्वामूलीय – जिह्वा के मूल से उच्चरित अ, ऋ आदि वर्ण।

तालव्य – तालु से व्यवहित होने वाले इ, ई आदि वर्ण।

तैरोव्यञ्जन स्वरित – व्यञ्जन से व्यवहित होने पर भी उदात्त के बाद में आने वाले अनुदात्त के स्थान पर निष्पन्न होने वाला स्वरित।

त्रिकम – तीन पदों का क्रमवर्ग।

दन्त्य – दाँतों से उच्चरित होने वाले तवर्गादि वर्ण।

दीर्घ – द्विमात्रिक स्वर-वर्ण।

द्रोणिका – षकार का उच्चारण करते समय जिह्वा के दोनों किनारे ऊपर उठ जाते हैं और जिह्वा मुड़ कर दोने के नाद आकार की बन जाती है।

नति – दन्त्य वर्ण का मूर्धन्य वर्ण हो जाना।

नाद – सघोष वर्णों की प्रकृति (बाह्य प्रयत्न)

नाम – द्रव्यवाचक पद ।

नामिन् – अ, आ से व्यतिरिक्त स्वर वर्ण।

नासिक्य – हकार और अनुनासिक स्पर्श के मध्य में उच्चरित किया जाने वाला नासिका से सम्बद्ध आगमः, नासिका से उच्चरित होने वाला वर्ण विशेष (हुँ)।

निपात – नाम, आख्यात और उपसर्ग को छोड़कर अन्य च आदि पद।

पद – सुप् तथा तिङ् प्रत्यय के योग से अर्थ का अभिधान करने वाला वर्ण या वर्णसमूह।

पद्य – पद के अन्त में आने वाले (पदान्तीय) वर्ण, सावग्रह पद का एक भाग।

पञ्चपद्य – पुलिंग प्रथमा विभक्ति के तीन रूप (एकवचन, द्विवचन, बहुवचन) और द्वितीया विभक्ति के दो रूप (एक वचन, द्विवचन)।

परिहार – क्रमपाठ में इति मध्य में रख कर किसी पद को दो बार उच्चारण करना।

पादवृत्त स्वरित – विवृत्ति का व्यवधान होने पर भी पदान्त उदात्त के प्रभाव से पदादि अनुदात्त के स्थान पर होने वाला स्वरित।

प्लुत – त्रिमात्रिक स्वर वर्ण।

प्रकृतिभाव – विकाररहित सन्धि।

प्रगृह्य – परवर्ती स्वर-वर्ण के साथ विकार होने पर भी विकार को प्राप्त न करने वाले स्वर-वर्ण।

प्राश्लिष्टस्वरित – उदात्त इकार के बाद में विद्यमान अनुदात्त इकार की प्रश्लिष्ट सन्धि के परिणामस्वरूप निष्पन्न होने वाला स्वरित।

बहुलम् (विभाषित) – विधान की कहीं प्रवृत्ति, कहीं अप्रवृत्ति, कहीं विकल्प से प्रवृत्ति और कहीं अन्यथा प्रवृत्ति होना।

मात्रा – वर्णों के उच्चारण काल को नापने की इकाई।

मूर्धन्य – मूर्धा (मुख विवर का सबसे ऊपर वाला भाग) से उच्चरित होने वाले टवर्गादि वर्ण।

यम – कुं, खुं, गुं, घुं ये नासिक्य वर्ण।

लघु – अ, इ, उ, ऋ आदि वर्ण।

लोप	–	वर्णों का अदर्शन, अनुच्चारण।
वर्ग	–	पाँच पाँच, स्पर्शों का समूह।
वर्ण	–	अकारादि ध्वनियां।
विग्रह	–	विराम (1), पृथक्करण।
विवृत	–	स्वर वर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न।
विवृततम	–	ए तथा ओ का आभ्यन्तर प्रयत्न।
(अति) विवृततम	–	आकार का आभ्यन्तर प्रयत्न।
विवृति	–	दो स्वर-वर्णों का काल के व्यवधान से पृथक्करण।
विसर्जनीय	–	वायु के विसर्जन से उत्पन्न होने वाला अः वर्ण।
विनाम, विनत	–	नति (दन्त्य वर्ण का मूर्धन्य हो जाना)।
व्यञ्जन	–	स्वर की सहायता से उच्चरित होने वाले क्, ख् आदि वर्ण।
श्वास	–	अघोष वर्णों की प्रकृति (बाह्य प्रयत्न)।
षत्व	–	सकार का मूर्धन्यभाव।
समानाक्षर	–	सर्वांश में समान रूप से उच्चरित होने वाले, अ आ आदि वर्ण।
समापत्ति	–	पदपाठ और क्रमपाठ में विकार को प्राप्त पदों के मूलरूप का प्रदर्शन।
समापाद्य	–	पद-पाठ एवं क्रम-पाठ में मूलरूप को प्राप्त होने वाले पद।
सन्धि	–	वर्णों का पास-पास आ जाना।

सन्ध्यक्षर – ए, ऐ, ओ, औ वर्ण।

सवर्ण – समान स्थान तथा आभ्यन्तर प्रयत्न वाला वर्ण।

संयोग – व्यञ्जन वर्णों का अव्यवहित मेल।

संहिता – वर्णों का एक प्राणयोग से उच्चारण।

संवृत – अकार का आभ्यन्तर प्रयत्न।

समास – दो या दो से अधिक पद जो परस्पर आकांक्षा से सम्बद्ध है, उनका एक विभक्ति से उच्चारण करना।

सोष्म – स्पर्श वर्गों का द्वितीय एवं चतुर्थ ख, घ आदि वर्ण।

स्थान – वर्णों के उच्चारण में प्रयुक्त स्थान।

स्पर्श – स्पृष्ट प्रयत्न वाले क् से म् पर्यन्त वर्ण।

स्पृष्ट – स्पर्श-वर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न जिसमें मुख के दो उच्चारणावयवों का परस्पर स्पर्श होता है।

स्फोटन – पूर्ववर्ती वर्ण के पदान्त तथा परवर्ती स्पर्शों के संयोग के मध्य में ध्वन्यागम से पृथक्करण।

स्वर – अ, आ, आ3, इ, ई, ई3, उ, ऊ, ऊ3, ऋ, ॠ, ॠ3, ऌ, ॡ, ॡ3, ए ए3, ओ, ओ3, ऐ,ऐ3, ओ-औ3, वर्ण।

स्वर – उदात्त, अनुदात्त और स्वरित संज्ञक स्वर-वर्णों के उच्चारण धर्म।

स्वरभक्ति – स्वर का अंश अर्थात् अति ह्रस्व स्वर।

स्वरित – उच्चारणावयवों के तिरक्षे जाने से उच्चारित होने वाला स्वर।

ह्रस्व – एकमात्रिक स्वर-वर्ण।

ग्रन्थ-सूची

ग्रन्थ का नाम	लेखक अथवा सम्पादक	प्रकाशक वर्ष
अथर्ववेद-प्रातिशाख्य	डॉ0 सूर्यकान्त	मेहरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर 1934
अथर्ववेदीया चतुराध्यायिका	डॉ0 जमुना पाठक	वाणी मन्दिर, नई सड़क वाराणसी 1998.
अमरकोष	पं0 शिवदत्त	निर्णय सागर प्रेस 1905
ऋकतन्त्र	डॉ0 सूर्यकान्त	मेहरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर 1934
ऋग्वेद-प्रातिशाख्य (प्रथम भाग)	मङ्गलदेव शास्त्री	वैदिक स्वाध्याय मङ्गल वाराणसी। 1959
ऋग्वेद-प्रातिशाख्य (द्वितीय भाग)	मङ्गलदेव शास्त्री	इण्डियन प्रेस, इलाबाद 1931
ऋग्वेद-प्रातिशाख्य एक परिशीलन	डा0वीरेन्द्रकुमार वर्मा	काशी हिन्दू विश्वविद्यालय शोध संस्कृत ग्रन्थमाला 1970
कात्यायनश्रौतसूत्रम् (प्रथम भाग)	नित्यानन्द पर्वतीय	चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थ-माला 1928
कात्यायनश्रौतसूत्रम् (द्वितीय भाग)	गोपालशास्त्री एवं अनन्तराम डोंगरा	चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थ-माला 1939
कात्यायनश्रौत्रसूत्रम्	पं0 विद्याधर शर्मा गौड़	अच्युत ग्रन्थमाला

काण्व-संहिता	श्रीपाद दामोदरदास साहवलेकर	स्वाध्याय मण्डल, औंध 1997
चतुरध्यायिका	ह्विटनी	चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस 1962
वरणाजुहस्त्रम्	अनन्तराम डोंगरा	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस 1938
तैत्तिरीय प्रातिशाख्य	वी0 वेंकटराम शर्मा	मद्रास विश्वविद्यालय, 1930
तैत्तिरीय प्रातिशाख्य	के0 रङ्गाचार्य	मैसूर 1906
तैत्तिरीय प्रातिशाख्य	ह्विटनी	मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली 1973
निरुक्तम्	पं0 गोविन्द शास्त्रा एवं छोटूपति त्रिपाठी	खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई सं0 1982
निरुक्त	छज्जूराम शास्त्री	मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, 1963
नारदीय शिक्षा	भट्ट शोभाकार	पीताम्बरापीठ सं0 परिषद, दतिया 1964
पाणिनीय शिक्षा	मनमोहन घोष	कलकत्ता विश्वविद्यालय 1938
पाणिनीयाष्टाध्यायी	ब्रह्मदत्त जिज्ञासु	प्यारेलाल कपूर, अमृतसर 1964
पातञ्जलिमहाभाष्य	वैद्यनाथ	मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली 1968
प्राचीन भारतीय भाषा और धर्म	डा0 उमेशचन्द्र	भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी 1971

भाषाविज्ञान	ब्लूमफील्ड	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1968
भाषाविज्ञान	भोलानाथ तिवारी	किताब महल, इलाहाबाद 1971
भाषाविज्ञान	मैक्समूलर	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1970
भाषाविज्ञान	आचार्य नरेन्द्रनाथ	नामप्रकाशन मण्डल, लखनऊ, 1960
भाषाविज्ञान	बाबूराम सलोना	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग 2013
महाभाष	वैद्यनाथ	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1967
महाभाष्य (प्रथम नवाह्निका)	चारदेव शास्त्री	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, सं0 2025
माध्यन्दिनसंहितायाः पदपाठ	युधिष्ठिर मीमांसक	रामपाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ (सोनीपत), 1971
याज्ञवल्क्यशिक्षा	अमरनाथ शास्त्री	पद्मनाथ दीक्षित पशुपतिश्वर, काशी, 1994 सं0
वाक्यपदीय	के0ए0एस0अय्यर	शोध संस्थान 1963
वाजसनेयि-प्रातिशाख्य	वी0वेंकटराम शर्मा	मद्रास विश्वविद्यालय, 1934
वाजसनेयि-प्रातिशाख्य	वीरेन्द्र कुमार वर्मा	ज्ञान प्रकाश प्रतिष्ठान गङ्गा महल, वाराणसी 1975

वेदभाष्यभूमिका संग्रह	बलदेव उपाध्याय	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, 1958
वैदिक-व्याकरण	मैकडानल	मोतीलाल बनारसीदास 1971
वैदिक-व्याकरण	डा० रामगोपाल	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली 1965
वैदिक-वाङ्मय का इतिहास (प्रथम भाग)	भगवददत	शोध विभाग, डी०ए०वी० कालेज, लाहौर, 1931
वैदिक-वाङ्मय का इतिहास (द्वितीय भाग)	भगवद्दत	शोध विभाग, डी०ए०वी० कालेज, लाहौर, 1928
वैदिक-साहित्य	पं०रामगोविन्द त्रिवेदी	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, 1968
वैदिक-साहित्य और संस्कृति	वाचस्पति गैरोला	संवर्धिका प्रकाशन, इलाहाबाद, 1969
वैदिक-साहित्य और संस्कृति	बलदेव उपाध्याय	शारदा मन्दिर, वाराणसी 1967
वैदिक स्वर-बोध	ब्रजविहारी चौबे	वैदिक साहित्य सदन, होशियारपुर 1972
वैदिक स्वर-मीमांसा	युधिष्ठिरं मीमांसक	
वैदिक स्वरित मीमांसा	डॉ० ब्रजबिहारी चौबे	वैदिक साहित्य सदन, होशियारपुर 1972
वैयाकरण सिद्धान्त-कौमुदी	वासुदेव पतशीकर	
शतपथब्राह्मण	चन्द्रधर शर्मा	अच्युत ग्रन्थमाला, काशी सं० 1994

शुक्लयजुर्वेदसंहिता (उवट एवं महीधर भाष्य संहित)	वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री वशीकर पाण्डुरंग जावजी	निर्णय साशर प्रेस, 1929
शुक्लयजुर्वेदप्रातिशाख्य	जीवानन्द विद्यासागर,	कलकत्ता, 1893
शुक्लयजुर्वेदप्रातिशाख्य	श्रीमती इन्दु रस्तोगी	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, आपिस, वाराणसी, 1967
संस्कृतव्याकरणशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग)	युधिष्ठिर मीमांसक	बहालगढ़, सोनीपत
सम्प्रदायप्रबोधिनी शिक्षा	डा0गोपालचन्द्र मिश्रा	सद्धर्म अनुसन्धान मन्दिर, वाराणसी.

लेखिका परिचय

डॉ० (श्रीमती) बीना जलोटे

(जन्म 7 जुलाई 1949) ने सन् 1993 से 1998 तक संस्कृत-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में रिसर्च एसोसिएट के पद पर कार्य किया है। इस पद के लिये आप विश्वविद्यालय अनुदान आयोग नयी दिल्ली द्वारा चयनित की गयी थी। इन वर्षों में आपने महिला महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य किया एवं अपने शोध-प्रबन्ध-"शुक्लयजुर्वेद-संहिता का ध्वनिवैज्ञानिक अध्ययन" का गहन अध्ययन तथा उसका लेखन कार्य सम्पादित किया। आपने सन् 1989 में संस्कृत-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। हाईस्कूल से एम० ए० तक सभी चारों परीक्षायें आपने प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की हैं। सम्प्रति आप वैदिक-व्याकरण के शोध-कार्य में संलग्न हैं।

ॐ

कला प्रकाशन

बी. 33/33-ए-1, न्यू साकेत कालोनी

बी. एच. यू., वाराणसी-5